

# वेद-विज्ञान-वीथिका

डॉ. दयानन्द भार्गव

आचार्य एवम् अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,  
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।

वैदिक अध्ययन केन्द्र, जोधपुर

वैदिक अध्ययन केन्द्र

वैदिक अध्ययन केन्द्र

जोधपुर

जोधपुर

प्रकाशक :

वैदिक अध्ययन केन्द्र  
जोधपुर

© डॉ. दयानन्द भार्गव

प्रथम संस्करण—२४ फरवरी, १९९६

मूल्य : दो सौ पचास रुपये मात्र

लेजर टाईपसेटिंग : सूर्या कम्प्यूटर, जोधपुर

मुद्रक : लोढ़ा ऑफसेट, जोधपुर



## समर्पणम्

आनन्दोत्तरलीकृत-श्रुतिपद-श्रद्धालु-वृन्दाब्धिका,  
विज्ञानाद्भुत-सूर्य-तीव्र-किरण-प्रद्योतितान्तस्तनुः,  
स्रष्टुर्मानसजा सुधा-रसमय-प्राणा स्वतस्सौम्य-वाक्,  
वेदाध्व-श्रम-वारि-हारि-सुभगा कर्पूरचन्द्र-प्रभा ॥

कर्पूरचन्द्र की प्रभा श्रुति-पद के प्रति श्रद्धालु-जन रूपी समुद्र को आनन्द से तरङ्गित करने वाली, विज्ञान रूपी अद्भुत सूर्य की प्रखर रश्मियों से आलोकित अन्तःशरीर वाली, स्रष्टा के मन से उद्भूत, अमृत-रसमय-प्राणयुक्त, सहज सोममयी वाक् वाली, तथा वेदमार्ग के श्रमबिन्दुओं को दूर करने वाली होने के कारण रमणीय है ।

पर-गुण-परमाणून् पर्वतीकृत्य योऽयं  
प्रकटयति तथा यद्दुःखमेति प्रणाशम् ।  
अभिनव-कृतिमेनां वेद-विज्ञान-वीथिं  
वितरति नति-पूर्वं तस्य पाणौ जनोऽयम् ॥

जो श्री कर्पूरचन्द्र कुलिश दूसरों के परमाणु के समान छोटे से भी गुण को पर्वत के समान इतना बढ़ा करके प्रदर्शित करते हैं कि व्यक्ति अपना समस्त दुःख भूल जाता है, उन्हीं के कर-कमलों में यह जन अपनी नूतन कृति वेद-विज्ञान-वीथिका प्रणामपूर्वक अर्पित करता है ।

दयानन्द भार्गव

## प्राक्कथन

जयनारायणव्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर के संस्कृत-विभाग के आचार्य एवम् अध्यक्ष तथा वैदिक-अध्ययन-केन्द्र, जोधपुर के उपाध्यक्ष डॉ. दयानन्द भार्गव की प्रस्तुति कृति को विद्वज्जगत् के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष है। डॉ. भार्गव वेद-विज्ञान पर एक प्रारम्भिक पुस्तिका 'वेद-विद्या-प्रवेशिका' पहले प्रकाशित कर चुके हैं। जो अध्येता इस 'वेद-विज्ञान-वीथिका' के अध्ययन में कठिनाई अनुभव करें, उन्हें पहले वह 'वेद-विद्या-प्रवेशिका' पढ़नी चाहिये, किन्तु विद्वज्जन 'वेद-विद्या-प्रवेशिका' पढ़े बिना भी इस ग्रन्थ को सीधा पढ़ें तो उन्हें कोई बाधा नहीं आयेगी, क्योंकि इस ग्रन्थ में वेद-विज्ञान-सम्बन्धी मन्तव्यों को क्रमिक रूप में वर्णित किया गया है तथा एतत्सम्बन्धी मूल मान्यताओं को भूमिका के अन्तर्गत स्पष्ट कर दिया गया है।

इस ग्रन्थ का मूल रूप डॉ. भार्गव ने तीन वर्ष पूर्व अपने विश्वविद्यालय से एक वर्ष का शैक्षणिक अवकाश प्राप्त करके तैयार किया था। तदनन्तर वे विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग की वीजिटिंग-प्रोफेसर-योजना के अन्तर्गत डॉ. हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय, सागर में एक मास तक व्याख्यान देने के लिये आमन्त्रित किये गये। वहाँ भी उन्हें इस विषय को ही विभिन्न विषयों के विद्वानों के सम्मुख निरन्तर एक मास तक प्रस्तुत करने का अवसर मिला। उन विद्वानों के बीच विचार-विमर्श से ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप और निखरा, जिसकी अन्तिम परिणति प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में हमारे सामने है। इस ग्रन्थ के कुछ अंश राजस्थान के प्रमुख दैनिक पत्र 'राजस्थान पत्रिका' में विज्ञान-वार्ता शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ व्याख्यान तथा लेखों के माध्यम से प्रकाशन से पूर्व ही विद्वानों के बीच चर्चा का विषय बन चुका है। अब ग्रन्थाकार में प्रकाशित हो जाने से यह सामग्री एक स्थान पर सबको सुलभ हो जायेगी।

यह ग्रन्थ वैदिक-अध्ययन-केन्द्र द्वारा प्रकाशित हो रहा है। वैदिक-अध्ययन-केन्द्र विभिन्न गोष्ठियों में वेद-सम्बन्धी व्याख्यान तथा अखिल भारतीय स्तर पर सम्मेलनों का आयोजन करता



है। ऐसा ही एक अखिल भारतीय सम्मेलन पहले हुआ था जिस अवसर पर डॉ. दयानन्द भार्गव ने 'वेद-विद्या-प्रवेशिका' नामक कृति प्रस्तुत की थी। अब एक दूसरे अखिल-भारतीय-सम्मेलन में उनकी यह दूसरी कृति हमारे सामने आ रही है। यह डॉ. भार्गव की वेद के प्रति गहरी निष्ठा का सूचक है। वैदिक-अध्ययन-केन्द्र को उनकी कृति के प्रकाशन का सौभाग्य मिल रहा है—केन्द्र के अध्यक्ष के नाते मेरे लिये यह गर्व का विषय है। मेरी कामना है कि डॉ. भार्गव इसी प्रकार आजीवन वेद की सेवा करते रहें।

वैदिक-अध्ययन-केन्द्र के संस्थापक-अध्यक्ष राजस्थान-पत्रिका के यशस्वी संस्थापक सम्पादक श्री कर्पूरचन्द्र जी कुलिश हैं। डॉ. भार्गव ने प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हें ही समर्पित किया है। वे केन्द्र के हम सब सदस्यों को जिस प्रकार कार्य करने के लिये प्रेरणा देते रहते हैं, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। ग्रन्थ के लेखन तथा विशेषकर प्रूफ संशोधन में सर्वश्री श्रीराम दवे, डॉ. नरेन्द्र अवस्थी, डॉ. सत्यप्रकाश दुबे, डॉ. मंगलाराम, डॉ. सरोज कौशल तथा श्री रामनारायण शास्त्री प्रभृति केन्द्र-परिवार के सदस्यों ने सहयोग दिया है अतः इन सबके प्रति हम कृतज्ञ हैं। श्री सूर्य प्रकाश भार्गव ने इस ग्रन्थ का अत्यन्त शीघ्रता एवं सुरुचिपूर्ण ढंग से कम्प्यूटराईज्ड टाईपसेटिंग किया, एतदर्थ हम उनके भी आभारी हैं। श्रुति-माता इन सबको निरन्तर अपनी सेवा का अवसर प्रदान करती रहे—यही प्रार्थना है।

जहाँ तक इस ग्रन्थ की विषयवस्तु का सम्बन्ध है, उसके विषय में मुझे कुछ कहने की आवश्यकता इसलिये नहीं रह गयी कि स्वयं लेखक ने ही ३५ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका में ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह दिया है। मैं तो केवल इतना कहना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ में अनेक विषय इदम्प्रथमतया पाठकों के सम्मुख आ रहे हैं। अतः वे इस ग्रन्थ को सहानुभूतिपूर्वक पढ़ेंगे तो अवश्य ही उन्हें अनेक उपयोगी तथ्य प्राप्त होंगे। वैदिक-अध्ययन-केन्द्र निकट भविष्य में अन्य भी बहुत से प्रकाशन करने वाला है। प्रस्तुत ग्रन्थ उन भावी प्रकाशनों के लिये एक पृष्ठभूमि तैयार करने में सहायक होगा—ऐसी आशा है।

प्रोफेसर अचलदास बोहरा

अध्यक्ष

वैदिक-अध्ययन-केन्द्र, जोधपुर

## विषयानुक्रमणी

प्राक्कथन	क
<b>भूमिका : विषयप्रवेश</b>	
ब्राह्मणग्रन्थ और वेदमन्त्रार्थ .....	१
वेदार्थ की सूक्ष्मता .....	२
साक्षात्कृतधर्मा-वैदिकऋषि .....	२
वेदों की प्रतीकात्मक-भाषा .....	२
वैदिक शब्द के अर्थों की व्यापकता .....	३
देवप्राण .....	४
बहुदेववाद तथा एकदेववाद .....	५
ज्ञान तथा विज्ञान .....	६
प्राण : चेतन ऊर्जा की सर्वव्यापकता .....	७
एक से अनेक .....	९
देवत्रयी तथा वेदत्रयी .....	१०
सोमवेद : अथर्ववेद .....	११
अग्नि और सोम का द्वन्द्व .....	१२
संवत्सर यज्ञ .....	१२
गति-आगति .....	१३
यज्ञ : प्रकृति की कार्यप्रणाली .....	१३
त्रिदेव : इन्द्र-विष्णु-ब्रह्मा .....	१४
ऋषि-प्राण .....	१५
पितरप्राण .....	१५



संवत्सर प्रजापति.....	१६
ऋत-सत्य.....	१६
विश्व के पाँचपर्वों में अग्नि-सोम .....	१७
षड्रजसु, सात व्याहृति, पाँच मण्डल, त्रिधाम .....	१७
तीन द्यावा-पृथिवी.....	१८
सूर्य से परे परमेष्ठी.....	१९
अध्यात्मयज्ञ .....	२१
दधि, मधु, घृत से अन्न का निर्माण.....	२१
गोदुग्धः आदर्श अन्न .....	२२
मनुष्य : यज्ञ के नियमों का अतिक्रान्ता .....	२२
अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य श्रेष्ठ.....	२४
मनुष्य का पुरुषभाव .....	२५
पुरुषार्थ-चतुष्टय.....	२५
वेदाधिगम की काम्यता .....	२७
यज्ञ की प्रतीकात्मकता .....	२७
काम और कर्म .....	२८
अव्ययपुरुष की पाँच कलायें .....	३०
अश्वत्थ-वृक्ष.....	३०
चतुष्पाद-ब्रह्म.....	३१
चतुर्वेद.....	३२
अध्यात्म में पञ्चपर्वा विश्व का प्रतिनिधित्व .....	३४
आत्मा के अनेक रूप .....	३४
<b>प्रथम अध्याय : जीवाधिकरण</b>	
त्रिदेव.....	३६
मनुष्य में देवों का निवास .....	३६
देवों का यज्ञ .....	३७
दृष्टि में समता, व्यवहार में सापेक्षता .....	३८
समर्पण का अर्थ .....	३९

यज्ञ का फल.....	३९
हमारे व्यक्तित्व के तीन घटक.....	३९
ब्रह्मौदन से विश्व, प्रवर्ग्य से व्यक्ति.....	४०
अर्थ क्रिया तथा ज्ञान.....	४१
वैश्वानर अग्नि की वाक्.....	४१
अन्न से शुक्रपर्यन्त सप्तधातुओं का निर्माण.....	४१
शुक्र से ओज.....	४१
ओज से मन.....	४१
विश्व के उपादानों से अन्न का तथा अन्न से हमारा निर्माण.....	४२
विश्व के पाँचपर्वों में अन्न-अन्नादभाव.....	४२
यज्ञीय अन्न.....	४३
अन्न के तीन भेद.....	४३
पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड.....	४३
पञ्चकोष एवं तीन शरीर.....	४५
आनन्दमयकोष.....	४६
विज्ञानमयकोष.....	४७
मनोमयकोष.....	४७
प्राणमयकोष.....	४८
अन्नमयकोष.....	४९
आत्मा के सम्बन्ध में अनेक विचार : देहात्मवाद.....	४९
प्राण ही आत्मा है.....	५०
बुद्धि ही आत्मा है.....	५०
आनन्द ही आत्मा है.....	५०
अज्ञानोपहित-चैतन्य ही आत्मा है.....	५०
शून्य ही आत्मा है.....	५०
सिद्धान्तपक्ष.....	५१
चार अवस्थायें.....	५१
वैश्वानर : जागरितावस्था.....	५१



तैजस : स्वप्नावस्था .....	५१
प्राज्ञ : सुषुप्त्यवस्था .....	५१
तुरीयावस्था .....	५२
शरीर तथा प्राण .....	५२
प्राज्ञ इन्द्र की ज्येष्ठता .....	५२
अ उ म ओम .....	५३
परलोक .....	५४
मरणोपरान्त सङ्क्रमण करने वाला जीव .....	५५
परलोकगामी सूक्ष्म शरीर : चन्द्रलोक .....	५५
सूर्यलोक .....	५५
दुर्गति .....	५५
सूर्यमण्डल का भेदन .....	५६
अपरामुक्ति .....	५६
परामुक्ति .....	५७
सात स्वर्ग .....	५७
तीन पितृलोक .....	५८
मरणोपरान्त आत्मगति के स्थान .....	५८
चार पथ .....	५९
चार पथों पर ले जाने वाले कर्म .....	५९
पन्थ .....	६०
शुक्लमार्ग .....	६१
कृष्णमार्ग .....	६१
कर्म के तीन प्रकार .....	६२
नाड़ी .....	६३
प्राणों से नाड़ियों का सम्बन्ध .....	६४

### द्वितीय अध्याय : ब्रह्माधिकरण

ब्रह्मजिज्ञासा .....	६६
ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति .....	६७

आभु और अभ्व .....	६७
सृष्टि से पूर्व की अवस्था.....	६८
तर्क का विषय : प्रकृति .....	६८
शब्द का विषय नामरूपात्मक जगत् .....	६९
निषेधात्मक भाषा में महाप्रलय की अवस्था का वर्णन .....	६९
विधि की भाषा में सृष्टि से पूर्व की अवस्था का वर्णन .....	६९
प्रकृति की साम्यावस्था .....	७०
आभु और परात्पर .....	७१
सृष्टि का आदिबिन्दु : स्रष्टा की सिसृक्षा .....	७२
शक्ति का जागरण .....	७२
कर्माध्यक्ष की सिसृक्षा.....	७२
आभु और अभ्व .....	७३
देवों का यज्ञ.....	७५
प्राणों का तप .....	७५
गति-आगति.....	७६
अक्षर से क्षर.....	७७
तप के पश्चात् श्रम तथा त्रिविध छन्द .....	७८
आभु का सर्वव्यापी भाव .....	७८
पुरुष की त्रिविधता.....	७९
पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति .....	७९
पुरुष तथा प्रकृति .....	८०
त्रिविध संसर्ग से पुरुष-वैविध्य : स्वरूप संसर्ग.....	८०
वृत्तिसंसर्ग .....	८१
पुरुष एवं रस तथा बल .....	८१
त्रिपुरुष एवं कारण-कार्य-भाव.....	८२
बलों का ग्रन्थिबन्धन.....	८२
काम, तप और श्रम .....	८२
बलों के चयन से त्रिपुरुष .....	८३



प्रजापति.....	८३
अव्यय पुरुष की कलायें तथा आत्मा .....	८४
पञ्चकोशों में रस-बल .....	८४
अव्यय की दो कलायें .....	८४
मन-प्राण-वाक् की विश्वव्यापकता .....	८५
मायाबल तथा भगवान्.....	८६
मन-प्राण तथा वाक् का महत्त्व.....	८६
मन-प्राण तथा वाक् के छह आधार.....	८६
मन-प्राण तथा वाक् का अन्तः सम्बन्ध .....	८६
त्रिगुण .....	८७
ज्योति, विधृति तथा प्रतिष्ठा .....	८७
सृष्टि में मन का योगदान .....	८७
ब्राह्मणग्रन्थों में मन.....	८८
प्राण.....	९२
प्राणों के भेद .....	९७
वाक्.....	९८
आत्मा की घटक : वाक् .....	१००
प्रजापति-वाक् .....	१०१
पञ्चपर्वों में वाक् .....	१०१
सर्वराज्ञी वाक् .....	१०२
साहस्त्री-वाक् .....	१०२
सुपर्णी-वाक्.....	१०३
वेद की वाक् सम्बन्धी चर्चा का परवर्ती-साहित्य पर प्रभाव .....	१०३
अक्षर-पुरुष .....	१०३
अक्षर की पाँच कलायें .....	१०४
क्षर.....	१०७
क्षरपुरुष .....	१०७
शरीर के भाग .....	१०८

**तृतीय अध्याय : विश्वाधिकरण**

विश्व शब्द का अर्थ .....	१०९
त्रिविध-सृष्टि .....	१०९
विराट्पुरुष .....	११०
ऋतु .....	१११
षड्भावविकार तथा विश्व के पाँचपर्व .....	१११
लोक-धाम-पर्व-भावविकार-तालिका .....	११२
पाँचपर्वों के पाँच महिमामण्डल .....	११२
सात लोक .....	११३
ऋत-सत्य .....	११३
सोम .....	११४
ऋतु .....	११५
पिण्डों की गति .....	११८
पाँचपर्वों के तीन-तीन मनोता .....	१२०
तीन द्यावापृथिवी .....	१२१
प्रकृति, आकृति और अहङ्कृति .....	१२२

**चतुर्थ अध्याय : कर्माधिकरण**

कर्मविज्ञान .....	१२३
क्रिया के विविध प्रकार .....	१२३
निष्कामकर्म .....	१२४
यज्ञ का आधार .....	१२४
आदानयज्ञ .....	१२५
अर्पणयज्ञ .....	१२५
उत्सर्गयज्ञ .....	१२५
भैषज्ययज्ञ .....	१२५
विकासयज्ञ .....	१२६
विकास का अर्थ .....	१२६
यज्ञ से सृष्टि .....	१२६



गोसवयज्ञ .....	१२७
प्राक्सोमिकयज्ञ तथा सप्तसंस्थ सोमयज्ञ .....	१२७
सवन .....	१२८
यज्ञ से स्वर्ग .....	१२८
यज्ञ और काल .....	१२९
यज्ञ से मुक्ति .....	१२९
चयन यज्ञ से गर्भ-निर्माण .....	१३०
तीन शरीर .....	१३०
अन्नयज्ञ .....	१३१
चित् और चिति .....	१३१
माया तथा अविद्या .....	१३२
कर्म, विकर्म और अकर्म .....	१३२
यज्ञ का लक्षण-वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यद्यज्ञः .....	१३५
स्थैतिक-ऊर्जा तथा गतिज-ऊर्जा—आनीत् एवं प्राणीत् .....	१३५
वाक् तथा मन के बीच की शृङ्खला प्राण की रज्जु .....	१३६
मन की कामना प्राण की गति द्वारा अपूर्व की उत्पत्ति करती है .....	१३६
यज्ञ की सफलता के आठ हेतु .....	१३६
यज्ञ में मन का योगदान .....	१३७
प्राण ही देव हैं .....	१३७
मन-प्राण का प्रेरणा-स्रोत .....	१३८
प्राण का वाक् से सम्बन्ध .....	१३८
सबका देवमयत्व .....	१३९
यज्ञ की सकामता .....	१३९
प्राण तथा क्वाण्टमसिद्धान्त .....	१३९
गति से पञ्चभूतोत्पत्ति .....	१४०
वाक् से चित्त .....	१४०
अन्नमय-मन .....	१४०
सकाम-कर्म .....	१४१

कर्तव्य-बोध .....	१४१
वैदिक जीवनदृष्टि की सर्वाङ्गीणता .....	१४२
पुरुषार्थचतुष्टय .....	१४३
परमपुरुषार्थ .....	१४४
वर्णाश्रमचतुष्टयी .....	१४४
<b>पञ्चम अध्याय : देवताधिकरण</b>	
देव : सौरप्राण .....	१४९
देव और देवता .....	१४९
देवताओं की सङ्ख्या .....	१५०
यज्ञ तथा देवता .....	१५०
क्या देव पुरुषविध हैं .....	१५०
देवताओं के आठ प्रकार .....	१५१
तैंतीस देव .....	१५१
देवासुर-सङ्ग्राम .....	१५२
तीन देवों की तीन शक्तियाँ .....	१५३
भौम देवता .....	१५३
बहुदेववाद तथा एकेश्वरवाद .....	१५३
१४ प्रकार की सृष्टि .....	१५४
सृष्टि के विकासक्रम में देव .....	१५४
अन्य देवता .....	१५४
आठ वसु .....	१५७
अग्नि की पाँच-चिति .....	१५७
अक्षर-अग्नि .....	१५७
अग्नि का सर्वदेवत्व .....	१५७
अग्नि-सोम .....	१५८
त्रिविध-अग्नि .....	१५८
अध्यात्म में अग्नि .....	१५९
अग्नि के अन्य भेद .....	१५९



अग्नि के कार्य .....	१५९
अग्नि के अन्य भेद .....	१६०
अग्नि-सोम .....	१६१
वषट्कार .....	१६१
अग्नि के सम्बन्ध में मतभेद .....	१६१
ब्राह्मणग्रन्थों में अग्नि .....	१६२
ब्राह्मणग्रन्थों में वायु .....	१६६
इन्द्र .....	१६७
चतुर्दश इन्द्र .....	१६८
इन्द्र और गति .....	१६९
इन्द्र तथा अन्य देव .....	१७०
इन्द्र का शासन .....	१७१
इन्द्राग्नि की समष्टि सूर्य .....	१७२
सूर्य की गति-स्थिति .....	१७२
सूर्य के मनोता .....	१७२
सूर्य तथा अन्य ग्रह .....	१७२
द्वादश आदित्य .....	१७३
इन्द्र .....	१७३
धाता .....	१७३
भगः .....	१७४
पूषा .....	१७४
मित्रावरुणौ .....	१७४
अर्यमा .....	१७४
अंशु .....	१७५
विवस्वान् .....	१७५
सविता .....	१७५
विष्णु .....	१७५
ब्राह्मणग्रन्थों में आदित्य .....	१७६

ऋषि .....	१७९
प्राण असत् .....	१७९
विश्व के पाँचपर्वों में प्राण .....	१७९
ऋषिमूल-प्राण .....	१७९
सप्तर्षि .....	१८०
ऋषिकर्म .....	१८१
रोचनालक्षणऋषि .....	१८२
द्रष्टृलक्षणऋषि .....	१८४
वक्तृलक्षणऋषि .....	१८४
सप्तर्षियों की त्रयी ऋषियों से सृष्टि .....	१८५
ऋषि और सृष्टिविद्या .....	१८६
छन्द .....	१८६
छन्द से विविधता .....	१८७
छन्द और वाक् .....	१८७
अर्थछन्द .....	१८८
छन्द और अध्यात्म .....	१८९
चार लोक के चार छन्द .....	१८९
तीन छन्द .....	१८९
सात छन्द .....	१९०
छन्द और देव .....	१९०
छन्दों की अक्षरसङ्ख्या .....	१९१
छन्दों का कार्य .....	१९२
पितृत्व .....	१९२
पितर का अर्थ .....	१९२
खगोल में पितर .....	१९३
पितरों के भेद .....	१९४
देव, पितर, ऋषि .....	१९४
पितरों का कार्य .....	१९५



पर, मध्यम, अवर पितर.....	१९६
सात पितर.....	१९७
सृष्टि के पितर.....	१९८
ऋतु पितर.....	१९८
त्रिलोकी में पितर.....	१९९
त्रिगुणात्मक पितर.....	२००
<b>षष्ठ अध्याय : तत्त्ववेदाधिकरण</b>	
वेद तथा ब्रह्म की सच्चिदानन्दात्मकता.....	२०१
त्रयी की सर्वव्यापकता.....	२०२
ऋक् के मूर्ति.....	२०२
यजुः से क्रिया.....	२०३
साम से तेज.....	२०३
ऋक् और साम में यजु.....	२०३
पदार्थ की ध्रुवता में परिवर्तनशीलता.....	२०३
प्रजापति से तत्त्ववेद की उत्पत्ति.....	२०४
स्वयम्भूमण्डल में सत्यप्रजापति के रूप में.....	२०४
परमेष्ठीमण्डल में यज्ञप्रजापति के रूप में त्रयी.....	२०५
विराट् प्रजापति : सूर्यमण्डल की त्रयी.....	२०५
चतुर्विध प्रजापति की चतुर्विध माया.....	२०५
प्रत्येक अणु में त्रयी.....	२०५
स्वयम्भू में त्रयी.....	२०६
प्रथम त्रयी : ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति.....	२०६
तीन अग्निवेद.....	२०७
नामरूपकर्मात्मक जगत्.....	२०७
सोमवेद अथर्ववेद.....	२०८
अथर्वाङ्गिरस वेद में ही त्रयी प्रतिष्ठित है.....	२०८
तत्त्ववेद के आलोक में शब्दवेद के अर्थ.....	२०९
ब्राह्मणों में तत्त्वों की व्याख्या का आधार तत्त्ववेद.....	२१०

पुराणों में तत्त्ववेद .....	२११
दिक्, देश, काल में त्रयी .....	२१२
वर्णों में त्रयी .....	२१३
त्रयी का विस्तार .....	२१३
वेद, विद्या तथा ब्रह्म .....	२१३
सूर्य में त्रयी .....	२१४
पञ्चपर्वों में त्रयी .....	२१५
विश्व के पाँचपर्वों में प्रत्येक के तीन-तीन मनोता .....	२१६
त्रयी के अनेक आयाम .....	२१६
पिण्डनिर्माण की प्रक्रिया .....	२१८
यजुर्वेद .....	२१९
यजुः से क्रिया .....	२१९
सामवेद .....	२२०
साम के भेद .....	२२१
पूर्व-पूर्व मण्डल ऋक्, उत्तरोत्तरमण्डल साम .....	२२२
साम से तेजोमण्डल की उत्पत्ति .....	२२२
अथर्ववेद : सोमवेद .....	२२४
अथर्ववेद : सुवेद .....	२२५
अग्नि-वायु-आदित्य का क्षेत्र : विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ .....	२२५
ऋक् सत्, साम चित्, यजु आनन्द .....	२२६
यजुः आत्मवेद, ऋक् प्रतिष्ठावेद, सामज्योतिर्वेद .....	२२७
तीनों वेदों का तीनों में समावेश .....	२२७
ऋक् आनन्द, साम सत् यजु : चित् .....	२२७
ऋग्वेद में तीनों वेद .....	२२८
सामवेद में तीनों वेद .....	२२८
यजुर्वेद में तीनों वेद .....	२२९
वाक्, प्राण, मन तथा त्रयी .....	२२९
रेखागणित तथा त्रयी .....	२३०



पञ्चदेव तथा त्रयी .....	२३०
वस्तु के पञ्चपृष्ठ तथा त्रयी .....	२३०
आपोमयजगत् .....	२३१
<b>परिशिष्ट : दशवादाधिकरण</b>	
ज्ञान-विज्ञान .....	२३३
सदसद्वाद .....	२३४
प्राग्वैदिक दशवाद का सदसद्वाद में समावेश .....	२३६
रजोवाद .....	२३९
व्योमवाद .....	२४५
अपरवाद .....	२४८
लोकायतमत .....	२४८
परिणामवाद .....	२४८
यदृच्छवाद .....	२४८
नियतिवाद .....	२४९
प्रकृतिवाद .....	२४९
वाक् तथा अपरवाद .....	२५०
आवरणवाद .....	२५०
अम्भोवाद .....	२५१
अमृतवाद .....	२५५
अहोरात्रवाद .....	२५६
संशयवाद .....	२५८
<b>उपसंहार : वेद-विज्ञान के भावी अध्ययन की दिशाएँ</b>	<b>२६०</b>

## भूमिका

### विषय-प्रवेश

इस सम्बन्ध में पूर्व अथवा पश्चिम के विद्वानों में कोई मतभेद नहीं है कि ऋग्वेद संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, यद्यपि इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है कि ऋग्वेद कितना पुराना है। वेदों के काल तथा अन्य बहिरङ्ग विषयों के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य के विभिन्न इतिहासों में पर्याप्त ऊहापोह हो चुका है। एतत्सम्बन्धी विवेचन जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम वेदों के अन्तरङ्ग विवेचन पर ही अधिक बल देंगे।

### ब्राह्मणग्रन्थ और वेदमन्त्रार्थ

जिस प्रकार वेदों के काल के सम्बन्ध में मतभेद है उसी प्रकार वेदों की व्याख्या के सम्बन्ध में भी मतभेद है। व्याख्या सम्बन्धी इस मतभेद की चर्चा भी वैदिक साहित्य के विभिन्न इतिहासों में विस्तार से हो चुकी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम वैदिक साहित्य की वह व्याख्या लेकर चलेंगे जो ब्राह्मणग्रन्थों में दी गई है। ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्म अर्थात् वेद की व्याख्या। ब्राह्मण साहित्य विपुलकाय है और उसमें वेदमन्त्रों की क्रमशः टीका तो नहीं है परन्तु उन वेदमन्त्रों का विनियोग-किस कर्म में होता है—इसकी चर्चा अवश्य है। सहज ही इस चर्चा के अन्तर्गत वेदमन्त्र के अर्थ पर भी विचार करना पड़ता है। यह सत्य है कि इन ब्राह्मणग्रन्थों में मुख्यतः वैदिक यज्ञों का प्रतिपादन है किन्तु उस प्रतिपादन की पृष्ठभूमि में अनिवार्यतः सृष्टिविद्या का वर्णन है। इस सृष्टिविद्या के अन्तर्गत विश्व के उद्भव की चर्चा ही नहीं है अपितु विश्व के स्वरूप का विश्लेषण भी है। यह विश्लेषण पर्याप्त विस्तृत और सूक्ष्म है। इसी विश्लेषण के आधार पर वेदमन्त्रों में स्तुत देवों का भी स्वरूप ठीक से समझा जा सकता है। अधिकतर विद्वानों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों को कर्मकाण्ड की पुस्तक ही समझा और उनमें दी गई सृष्टिविद्या, यज्ञविद्या तथा देवविद्या पर ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि वेद की सबसे प्राचीन व्याख्या द्वारा प्रतिपादित वैदिक जीवन दृष्टि से हम अपरिचित ही रह गए। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम मुख्यतः ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित दृष्टि से ही वैदिक साहित्य में उपलब्ध होने वाली उस सामग्री का विवेचन करेंगे जो पूरे भारतीय चिन्तन का मूल स्रोत है और जिसकी प्रासङ्गिकता विज्ञान के विकास के साथ दिनों-दिन बढ़ती जा रही है।



## वेदार्थ की सूक्ष्मता—

वेद की व्याख्या सरल कार्य नहीं है। स्वयं ऋग्वेद (१०.७१.४) कहता है कि अधिकतर लोग वाणी को देखते हुए भी नहीं देख पाते और सुनते हुए भी नहीं सुन पाते। केवल कुछ गिने-चुने लोगों के सम्मुख ही वाणी अपना रहस्य उद्घाटित करती है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच-  
मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।  
उतो त्वस्मै तन्वं विससे  
जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

स्पष्ट है कि वेद का ऋषि वेदवाणी को साधारण नहीं मानता, प्रत्युत यह मानता है कि उसमें गहरे रहस्य छिपे हैं। उस छिपे हुए गहरे रहस्य को उद्घाटित करके ही कोई वेद-व्याख्या कृत-कृत्य हो सकती है। केवल शब्द का अर्थ कर देने मात्र से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

## साक्षात्कृतधर्मा वैदिक ऋषि

सायणाचार्य ने वेदार्थ की गूढ़ता को यह कहकर प्रकट किया है कि वेद की वेदता इसमें है कि वेद उन उपायों का वर्णन करता है जो न प्रत्यक्ष द्वारा जाने जा सकते हैं और न अनुमान द्वारा—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।  
एतद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥

प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा तो हम जैसे साधारण मनुष्य भी पदार्थों को जानते ही हैं, किन्तु वेद के ऋषियों की विशेषता यह है कि वे अपनी क्रान्तदर्शिता द्वारा उन धर्मों का भी साक्षात्कार कर लेते हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा नहीं जान सकते। वेदार्थ को जानने के लिये प्राचीनतम वैदिककोश निघण्टु पर निरुक्त नामक व्याख्या लिखने वाले यास्क ने ऋषियों का विशेषण 'साक्षात्कृतधर्मा' दिया है। साक्षात्कार अतीन्द्रिय ज्ञान को कहा जाता है।

## वेदों की प्रतीकात्मक भाषा

विज्ञान के क्षेत्र में भी आज परापरमाणु (सब्-एटोमिक) स्तर पर ऐसे अस्तित्व की चर्चा की जाती है जो अतीन्द्रिय है। यह परापरमाणु जगत् तो एक सीमा तक प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय है भी, किन्तु मनु तो वेद की सीमा उस स्तर तक मानते हैं जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान जा ही नहीं सकता। एक समय तक विज्ञान का विषय भौतिक जगत् ही था। किन्तु आज का विज्ञान आकर्षण-शक्ति-क्षेत्र तथा विद्युच्चुम्बकीय क्षेत्र जैसे स्थूलेतर विषयों का भी अध्ययन करता है। परापरमाणु स्तर पर विवेचन करते समय भौतिक विज्ञान के सम्मुख जो समस्या आती है उसका उल्लेख डब्ल्यू हाईजनबर्ग ने इन शब्दों में किया है—

इस क्षेत्र में भाषा की समस्या वस्तुतः गम्भीर है। हम परमाणु की रचना के सम्बन्ध में किसी प्रकार कुछ कहना चाहते हैं... किन्तु परमाणु के सम्बन्ध में दैनन्दिन व्यवहार की भाषा में कुछ नहीं कहा जा सकता है।<sup>१</sup>

डॉ. फ्रिटजोफ कॉपरा ने इस स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

इस स्तर पर पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान सीधा ऐन्द्रिक अनुभव से नहीं आता, अतः सामान्य-भाषा जो कि इन्द्रियगोचर जगत् से ही बिम्ब ग्रहण करती है, प्रतीति में आने वाली स्थिति का वर्णन करने के लिये पर्याप्त नहीं रहती।<sup>२</sup>

भाषा सम्बन्धी इस कठिनाई को दूर करने के लिये विज्ञान गणितीय भाषा का प्रयोग करता है। भाषा सम्बन्धी यह कठिनाई वेद के सम्मुख भी है, क्योंकि उसे भी अतीन्द्रिय अनुभवों को अभिव्यक्त करना है। वेद इस कठिनाई का समाधान प्रतीकात्मक भाषा का सहारा लेकर करता है। अतः वेदव्याख्या का मुख्य लक्ष्य प्रतीक अथवा पारिभाषिक शब्दों का अर्थ खोलना है। वेद की इस प्रतीकात्मक शैली को ही लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों में इस रूप में कहा है कि देवता परोक्षप्रिय होते हैं, प्रत्यक्षप्रिय नहीं—*परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः (गोपथ ब्राह्मण १.२.२१)*। गणित की भाषा कृत्रिम है किन्तु प्रतीक की भाषा में हम उन्हीं शब्दों को काम में लेते हैं जिनका प्रयोग हम दैनन्दिन व्यवहार में करते हैं तथापि उन दैनन्दिन शब्दों का भी प्रतीक रूप में प्रयोग होने पर वह अर्थ नहीं रह जाता जो अर्थ सामान्य व्यवहार के समय रहता है। अतः लौकिक संस्कृत का ज्ञान वैदिक मन्त्रों के अन्वय तथा शब्दार्थ जानने में भले ही सहायक हो जाये, किन्तु वैदिक मन्त्रों का वास्तविक तात्पर्य जानने के लिये हमें वैदिक शब्दों के परिभाषिक अथवा प्रतीकार्थ जानने ही होंगे। वैदिक शब्दों के ये पारिभाषिक या प्रतीकार्थ जितनी विशदता से ब्राह्मण ग्रन्थों में दिये गए हैं, अन्यत्र कहीं नहीं दिये गये। इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों का गहरा और विस्तृत अध्ययन किये बिना वेद के मर्म को जानना असम्भव ही है।

### वैदिक शब्द के अर्थों की व्यापकता

वैदिक शब्दों का अर्थपटल व्यापक है। उदाहरण के लिये हम अग्नि शब्द को लें। ऋग्वेद के प्रारम्भ में प्रथम शब्द अग्नि ही आया है। अग्नि शब्द का सामान्य अर्थ आग है, किन्तु ऋग्वेद

१. The problems of language here are really serious. We wish to speak in some way about the structure of atoms—But we cannot speak about atoms in ordinary language. *Tao of Physics* द्वारा *Fritjof Capra*. पृ ५३ पर उद्धृत

२. The knowledge about matter of this level is no longer derived from direct sensory experience, and therefore our ordinary language, which takes its image from the world of the senses is no longer adequate to describe the observed phenomena. उपरिवत्, पृ ६० पर उद्धृत



(१.१६४.४६) कहता है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, मातरिश्वा—ये सब अग्नि के ही नाम हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान् ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

स्पष्ट है कि ऐसा वक्तव्य सामान्य अग्नि के लिए नहीं दिया जा सकता। अग्नि का एक रूप वह है जो भट्ठी आदि में दिखाई देता है। दूसरी ओर शतपथ ब्राह्मण (१.४.८.१०.१) में अग्नि के उस स्वरूप की चर्चा है जिसे वैश्वानर कहा जाता है और जो हमारे शरीर के अन्दर रहकर अन्न पचाता है—*अयमग्निर्वैश्वानरः । योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते*। यह वैश्वानराग्नि भट्ठी की भूताग्नि से कहीं अधिक सूक्ष्म है। जो काम यह अन्न को रक्त मांसादि में परिणत करने का करती है वह कार्य भट्ठी की भूताग्नि कदापि नहीं कर सकती। यही अग्नि ऊष्मा के रूप में जीवनी शक्ति है। जब तक यह ऊष्मा है तब तक जीवन है। जीवन शक्ति के रूप में इस अग्नि का नाम महाभारत (आरण्यपर्व, २११.४) में मनु ने दिया है—

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निभूतेषु लक्ष्यते ।

अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् ॥

अग्नि का एक अन्य रूप ब्रह्माग्नि है। यह ब्रह्माग्नि ही हमारे समस्त चिन्तन का प्रेरणा स्रोत है। इस ब्रह्माग्नि रूप के सम्बन्ध में ही मैत्रायणी संहिता (१.६.१) कहती है 'अग्निऋषिः' अर्थात् अग्नि ऋषि है। इस प्रकार के वक्तव्य आधुनिक वैज्ञानिक को स्वीकार्य नहीं है। ब्रह्माग्नि की बात तो दूर, वह तो जटराग्नि को भी मानने के लिये तैयार नहीं है। इसका कारण यह है कि वह अग्नि शब्द से केवल भूताग्नि को ही समझता है और अन्न की पाचन क्रिया में उसे कहीं भी भूताग्नि उपलब्ध नहीं होती। इसलिए वह वैदिक ऋषि की इस दृष्टि को नहीं समझ पाता कि एक ही अग्नि अनेक रूप धारण कर लेती है। दूसरी ओर ऋग्वेद (८.५.८.२) स्पष्ट कहता है कि एक ही अग्नि अनेक रूप धारण कर लेता है—*एक-एवाग्निर्बहुधा समिद्धः । ऋग्वेद (५.३.१)* कहता है कि हे अग्नि ! तुम ही वरुण हो, तुम ही मित्र बन जाते हो, सब देवता तुममें हैं, तुम यजमान मनुष्य के लिए इन्द्र बन जाते हो—

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः ।

त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥

## देवप्राण

वेद के इस प्रकार के वक्तव्य सामान्यतः पाठक को पहेली जैसे प्रतीत होते हैं। इसलिए इस विषय पर थोड़े स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

शतपथ ब्राह्मण (७.५.१.२१) स्पष्ट कहता है कि देव का अर्थ है प्राण—*तस्माद्देवा प्राणाः । स्वयं तैत्तिरीय संहिता (६.१.४.५)* भी यही कहती है—*प्राणा वै देवाः ।* स्पष्ट है कि सभी देव प्राण हैं इसलिए अग्नि भी प्राण है। शतपथ ब्राह्मण बारम्बार (६.३.१.२१, २.२.२.५५, ९.५.१.६८) इस बात को दोहराता है कि अग्नि प्राण है—*प्राणा अग्निः ।* जिस प्रकार अग्नि प्राण है उसी प्रकार



अन्य देवता भी प्राण हैं। गोपथ ब्राह्मण (२.४.११) कहता है कि वरुण प्राण है—*यः प्राणः स वरुणः।* जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (३.१.३.६) कहता है कि मित्र प्राण है—*प्राणो मित्रम्।* शतपथ ब्राह्मण (६.१.२.२८) कहता है कि इन्द्र प्राण है—*प्राण इन्द्रः।* एक अन्य स्थल पर शतपथ ब्राह्मण (१२.९.१.१४) बलपूर्वक कहता है कि इन्द्र और कुछ नहीं है प्राण ही है—*प्राण एव इन्द्रः।* ब्राह्मणग्रन्थों के इन वचनों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद का अग्नि को मित्र, वरुण या इन्द्र बताना प्रमत्त प्रलाप नहीं है प्रत्युत सर्वथा युक्तिसङ्गत है। इसका समीकरण इस प्रकार होगा—

(i)	अग्नि = प्राण	(ii)	अग्नि = प्राण
	प्राण = वरुण		प्राण = मित्र
	अग्नि = वरुण		अग्नि = मित्र
(iii)	अग्नि = प्राण	(iv)	अग्नि = प्राण
	प्राण = इन्द्र		प्राण = देव
	अग्नि = इन्द्र		अग्नि = देव

### बहुदेववाद तथा एकदेववाद

उपर्युक्त चतुर्थ समीकरण के अनुसार अग्नि का किसी भी देवता के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण (२.३) ने कह दिया कि अग्नि ही सब देवता है—*अग्निः सर्वा देवताः।* वस्तुतः सब देवताओं को प्राण रूप समझ लेने पर वेद के बहुदेवतावाद में अन्तर्निहित एकदेवतावाद का रहस्य समझ में आता है। ऐसा कहा जाता है कि एकदेववाद का प्रादुर्भाव परवर्ती वैदिक काल में हुआ इसलिए उसके सङ्केत तथाकथित अर्वाचीन प्रथममण्डल अथवा दशममण्डल में ही प्राप्त होते हैं, किन्तु हम देखते हैं कि पश्चिमी विद्वानों द्वारा ऋग्वेद (८.५.८.२) के प्राचीन माने जाने वाले अंश में भी बहुदेववाद में एकदेववाद का दर्शन ऋषि द्वारा उस समय अभिव्यक्त हुआ है जब वह कहता है कि एक ही अग्नि अनेक रूपों में समिद्ध है, एक ही सूर्य विश्व में व्याप्त है, एक ही उषा सब ओर प्रकाशित है। वस्तुतः यह एक ही सब कुछ बन गया है—

*एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।*

*एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति एकं वाऽइदं विबभूव सर्वम्॥*

प्रश्न होता है कि यदि एक ही प्राण अनेक देवताओं से अभिहित है तो उस देव का एक ही नाम क्यों नहीं दे दिया गया, अनेक नामों की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करते हुए यास्काचार्य (निरुक्त, ७.२) कहते हैं कि देवता एक ही है, किन्तु उसके नाम अनेक हैं क्योंकि उनके कर्म पृथक्-पृथक् हैं—*तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।* अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। इसकी व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य कहते हैं कि देवताओं का ऐश्वर्य इतना अधिक है कि उनके अनेक रूप हैं और इसलिए उनके नाम भी अनेक हैं—*महाभाग्यादैश्वर्य-योगादेकात्मनामनेकधा विकुर्वन्तीनामेकैकस्याः प्रतिविकारं जातवेदा वैश्वानरो वरुणो रुद्रोऽश्विनौ उषा इत्येवमादीनि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।* यदि वैदिक देवों का वास्तविक स्वरूप जानना हो तो उनके कर्म को समझना चाहिये। मूलतः वे सभी प्राण हैं, किन्तु उनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं।



इसलिए यास्क (निरुक्त, ७.१) ने उन्हें कर्मजन्मा कहा है। इस पर दुर्गाचार्य का कहना है कि यदि यह देवता भिन्न-भिन्न कर्मानुकूल रूप धारण न करे तो संसार में कर्म के फल की सिद्धि ही न हो—*न ह्येतेभ्य ऋते लोकस्य कर्मफलसिद्धिः स्यात्*। अपना-अपना कर्म करने में सभी देव महान् हैं इसलिए किसी देव को दूसरे देव से छोटा नहीं माना जा सकता, अपितु जिस कर्म का वर्णन होता है उस कर्म के अधिष्ठाता देव को उस कर्म का वर्णन करते समय सर्वोच्च बना दिया जाता है। ऋग्वेद (८.३०.१) कहता है कि देवताओं में कोई छोटा नहीं, सभी महान् हैं—*न हि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतो महान्त इत्।*

## ज्ञान तथा विज्ञान

एकदेववाद तथा बहुदेववाद के इस प्रसंग में ही ज्ञान तथा विज्ञान की भी संक्षिप्त चर्चा उपयोगी होगी। अनेक से एक की ओर जाना ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञान का विषय है। इसके विपरीत एक से अनेक की ओर जाना विज्ञान अथवा यज्ञविद्या का विषय है। पण्डित मधुसूदन ओझा के ग्रन्थ महर्षिकुलवैभवम् का उपोद्घात (पृष्ठ ३) लिखते समय उनके शिष्य महामहोपाध्याय गिरधर-शर्मा चतुर्वेदी ने कहा है—*एकस्माद् अनेकस्मिन्वतरणं विज्ञानं यज्ञविद्या तथा अनेकस्मादेकस्मिन्नारोहणज्ञानं ब्रह्मविद्या*। विज्ञान का यज्ञ तथा कर्म से सम्बन्ध तैत्तिरीय आरण्यक (८.५.१) तथा तैत्तिरीयोपनिषद् (२.५.१) में यह कहकर स्थापित किया गया है कि विज्ञान से यज्ञ का तथा कर्मों का विस्तार होता है—*विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च*। इसी श्रुतिप्रमाण के आधार पर गीता (१८.४२) पर भाष्य लिखते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने कहा कि विज्ञान कर्मकाण्ड में यज्ञादि कर्म करने की कुशलता का नाम है—*विज्ञानं कर्मकाण्डे यज्ञादिकर्मकौशलम्*।

यद्यपि ज्ञान और विज्ञान दोनों का क्षेत्र क्रमशः एकता और अनेकता होने के कारण पृथक् है तथापि दोनों एक-दूसरे के परिपूरक हैं। अनेक की अवधारणा के बिना एक की अवधारणा निरर्थक है और एक की अवधारणा के बिना अनेक की अवधारणा निराधार है। इसलिए यजुर्वेद (४०.१२) में विद्या और अविद्या के समन्वय पर बल दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो विद्या अर्थात् ज्ञान और अविद्या अर्थात् कर्म दोनों को साथ-साथ जानता है वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है—

*विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।*

*अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥*

ज्ञान और विज्ञान के इस समन्वय को और भी स्पष्ट करते हुए गीता (७.२) में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को विज्ञान सहित ज्ञान देने की बात कही है—*ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः*। गीता (८.१) में इसी बात को दोहराते हुए कृष्ण ने फिर 'ज्ञानं विज्ञानसहितम्' कहा है। इसके बावजूद भारत में जब ज्ञान का तो यशोगान हुआ, किन्तु कर्म की निन्दा हुई तो स्वाभाविक था कि विज्ञान का भी ह्रास हो गया क्योंकि जैसा हम ऊपर तैत्तिरीय आरण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषद् के साक्ष्य द्वारा कह चुके हैं कि कर्म का विज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान का महत्त्व असन्दिग्ध है किन्तु उपर्युक्त श्रुति तथा स्मृति के प्रमाणानुसार ज्ञान के समान ही विज्ञान भी आदरणीय है तथा उपास्य



है। परवर्ती काल में इस बात को भुला देने से विज्ञान तथा तदाश्रित कर्म की उपेक्षा से भारतीय संस्कृति में जो एकाङ्गिता आई वही हमारे हास का मुख्य कारण बनी। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम प्रयत्न करेंगे कि श्रुति और स्मृति के आदेशानुसार ज्ञान तथा विज्ञान दोनों को समान महत्त्व दें और भारतीय चिन्तन की श्रौत स्मार्त सर्वाङ्गीणता को उजागर करें। जिसे श्रुति विद्या-अविद्या कहती है, गीता ज्ञान-विज्ञान कहती है उसे ही आगम शिव और शक्ति कहते हैं। ज्ञान शिव है, कर्म उसकी शक्ति है तथा शक्ति और शक्तिमान् में अविनाभावसम्बन्ध है—*ज्ञानं शिवः कर्म च तच्छक्तिः शक्तिशक्तिमतोश्चाविनाभावः (महर्षिकुलवैभवम् उपोद्घात, पृष्ठ ५)*। ज्ञान और विज्ञान के इस अविनाभावसम्बन्ध को आधुनिक काल में इस प्रकार प्रकट किया गया है कि विज्ञान का कार्य विश्लेषण है, ज्ञान का कार्य संश्लेषण है। और ये दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं, क्योंकि ये दोनों ही कार्य हमारे ही मस्तिष्क के दो भिन्न-भिन्न भागों के कार्य हैं—

हमारे मस्तिष्क का बायां भाग पूर्वापर रूप में विश्लेषण करने में अधिक कुशल है। इसका काम सूचनाओं को सरल रेखाकार क्रमिक रूप में व्यवस्थित करना है। मस्तिष्क का दाहिना भाग, जो बायें भाग को नियन्त्रित करता है, मुख्यतः समग्रता से विचार करता है जो कि संश्लेषण के लिये अधिक उपयुक्त है और जो सूचनाओं को फैलाकर युगपद् देखता है।<sup>१</sup>

### प्राण : चेतन ऊर्जा की सर्वव्यापकता

ज्ञान-विज्ञान के इस पारस्परिक प्रसंगोपात्त प्रकरण को यहीं छोड़कर हम इस वक्तव्य की ओर ध्यान दें कि देव प्राण हैं। प्राण को सामान्यतः एनर्जी (Energy) कहा जा सकता है, किन्तु प्राण के लिए अधिक उपयुक्त शब्द 'साईकिक एनर्जी' होगा जिस शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग ने किया है (फ्रिटजोफ कापरा, अनकॉमन विज़डम, पृ. ४६८)। एनर्जी की अवधारणा जड़ भूत से जुड़ी है। प्राण की अवधारणा जीवित शरीर से जुड़ी है। दो दृष्टियाँ हैं—एक दृष्टि का मानना है कि जड़भूत से ही चेतना का विकास हो जाता है; एनर्जी की अवधारणा इस प्रथम दृष्टि से जुड़ी है। दूसरी दृष्टि है कि चेतना ही भूत के रूप में अवतरित होती है; प्राण की अवधारणा इस दूसरी दृष्टि से जुड़ी है। प्रथम दृष्टि के अनुसार मौलिक भूत है, चेतना उसका विकास अथवा विकार है। दूसरी दृष्टि के अनुसार मौलिक तत्त्व चेतना है, भूत उसका विकार है। प्रथम दृष्टि के अनुसार परमार्थतः सब जड़ है, चेतन कुछ भी नहीं है। दूसरी दृष्टि के अनुसार परमार्थतः सब चेतन है, जड़ कुछ भी नहीं है। जहाँ चेतना इतनी अधिक आवृत्त हो जाती है कि

- 
1. Left hemisphere, which seems to be more specialised in analytic, linear thinking which involves processing information sequentially; the right hemisphere, controlling the left side seems to function predominantly in a holistic mode that is appropriate for synthesis and tends to process information more diffusely and simultaneously. *Fritjof Capra, The Turning Point* पृ २९३



वह हमारी प्रतीति में न आवे, हम उसे जड़ कह देते हैं किन्तु जैसे-जैसे वे साधन हमें उपलब्ध होते हैं जिससे हम छिपी हुई चेतना को भी पहचान सकें वैसे-वैसे हम जिसे कल तक जड़ समझते थे उसे ही हम चेतन के रूप में जानने लगते हैं। उदाहरणतः सर जगदीश चन्द्र बोस से पहले वनस्पति को जड़ समझा जा रहा था, यद्यपि मनु की यह स्पष्ट घोषणा कि वनस्पति में भी चेतना छिपी हुई है और वे सुख तथा दुःख का अनुभव करते हैं—*अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुख दुःखसमन्विताः*। सर जगदीश चन्द्र बोस को जैसे ही समुचित उपकरण उपलब्ध हो गये वैसे ही मनु का उपर्युक्त कथन विज्ञान के प्रयोग से सिद्ध हो गया। विज्ञान अभी तक चट्टान को जड़ माने हुए है, किन्तु वेद पत्थरों को भी सम्बोधित करता है। तैत्तिरीय संहिता (१.३.१.३.१) में कहा गया है कि हे पत्थरों ! सुनो—*शृणोत ग्रावाणः*। प्रश्न होता है कि क्या पाषाण सुन सकते हैं ? शतपथ ब्राह्मण (१.४.४.२.१८) का कहना है कि आत्मा सबमें है—*अत्र ह्येते सर्वे एकं भवन्ति तदेतत् पदनीयं सर्वस्य यदयमात्मा*। पत्थर में भी आत्मा है। आत्मा क्या है इसका उत्तर देते हुए शतपथ ब्राह्मण (१.४.४.३.१०) कहता है कि आत्मा के तीन घटक हैं—वाक्, मन और प्राण—*अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः*। निष्कर्ष यह हुआ कि पत्थर में केवल वाक् अर्थात् मैटर और प्राण अर्थात् एनर्जी ही नहीं है मन अर्थात् माइण्ड भी है। इसलिए पत्थर को सम्बोधित करना सर्वथा युक्तियुक्त है। जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान वनस्पति में चेतना को मानता है उसी प्रकार पाषाण में अभी तक चेतना को नहीं मानता किन्तु इस बारे में पर्याप्त संकेत है कि आधुनिक विज्ञान भी पाषाण में चेतना को मानने लगेगा—

अब मन और पदार्थ को मौलिक रूप से भिन्न दो कोटियाँ नहीं माना जाता जैसा कि डेकार्ट का विश्वास था अपितु यह माना जा रहा है कि ये दोनों एक ही सार्वभौम प्रक्रिया के केवल दो भिन्न पक्ष हैं।<sup>१</sup>

यही नहीं, आज का वैज्ञानिक यह स्पष्ट अनुभव कर रहा है कि

पर्यावरण केवल सजीव ही नहीं अपितु हमारी भाँति समनस्क भी है।<sup>२</sup>

वस्तुतः आज ईश्वर को स्रष्टा के रूप में न समझ कर विश्व के मन के रूप में समझा जा रहा है।<sup>३</sup> आज शतपथ ब्राह्मण का यह वक्तव्य कि प्रजापति सृष्टि को बनाकर स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गया, *तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, (तैत्तिरीयोपनिषद् २.६)* इस रूप में अभिव्यक्त हो रहा है कि—

- 
1. Mind and matter no longer appear to belong to two fundamentally separate categories, as Decarte believed but can be seen to represent merely different aspects of the same universal process. *Fritjof Capra, The Turning Point* पृ २९०।
  2. We realise that the environment is not only alive but also mindful, like ourselves उपरिवत् पृ २९१।
  3. God is not the creator, but the mind of universe. उपरिवत्, पृ ९२।



सभी सजीव पिण्ड स्वयं द्वारा स्वयं व्यवस्थित हो रहे हैं अर्थात् व्यवस्था उन पर बाहर से थोपी नहीं जा रही अपितु उनमें अन्तर्निहित है।<sup>१</sup>

जड़ और चेतन के बीच मौलिक एकता को हृदयङ्गम कर लेने के बाद इस बात में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती कि अग्नि शब्द के द्वारा आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार की अग्नियों का बोध हो। यह आरोप है कि वेदों में जड़प्रकृति की उपासना है—तभी तक ठीक प्रतीत होता था जब तक हम प्रकृति को जड़ तथा मनुष्य को चेतन मानकर दोनों के बीच भेदक रेखा खींच रहे थे आज यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रकृति भी सजीव है। अतः प्रकृति और मनुष्य को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार वेद अनेकता में अनुस्यूत एकता को अपनी अन्तर्दृष्टि से देख पाता है और यह घोषणा करता है कि पूरा विश्व एक नीड़ है—*यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्*। यही वेद की समग्र दृष्टि है। इस समग्र दृष्टि के कारण एक ही वेद-मन्त्र के अधिभौतिक अधिदैविक, और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अर्थ निकलते हैं, क्योंकि वेद की दृष्टि सर्वतोमुखी है—*वेदानां सर्वतोमुखम्*।

### एक से अनेक

इस समग्र दृष्टि से एक ही अग्नि घनता, तरलता और विरलता के कारण तीन देवों में बदल जाती है। जिसे हम घनता, तरलता और विरलता कह रहे हैं यजुर्वेद (१.१७-१८) में उसे ध्रुव, धरुण और धर्त्र कहा गया है। पृथिवी ध्रुव है, अन्तरिक्ष धरुण है, द्यौ धर्त्र है—*ध्रुवमसि पृथिवी, धरुणमस्यन्तरिक्षं धर्त्रमसि दिवम्*। यजुर्वेद के इस वक्तव्य को हम यास्काचार्य (निरुक्त ७.२) के उस वक्तव्य से जोड़ें जिसमें अग्नि को पृथिवी स्थानीय, वायु को अन्तरिक्ष स्थानीय और सूर्य को द्युस्थानीय देवता माना गया है—*तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।* यास्क का यह वक्तव्य शतपथब्राह्मण (९.१.१.२३) के उस वचन पर आधृत है जिसके अनुसार अग्नि, वायु तथा आदित्य देवों के हृदय हैं—*अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवानां हृदयन्ति*। यास्काचार्य (निरुक्त ७.४) ने स्पष्ट किया है कि पार्थिवाग्नि ही अग्नि नहीं है उत्तरवर्ती दो ज्योतियाँ वायु और सूर्य भी अग्नि ही हैं—*स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते*। ब्राह्मण ग्रन्थ इस विषय को अत्यन्त स्पष्ट कर देते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (२.३.४) स्पष्ट कहता है वायु अग्नि है—*वायुर्वाग्निः। शतपथ ब्राह्मण (६.३.१.२९) कहता है आदित्य भी अग्नि है—असावादित्य एषोऽग्निः। यही नहीं ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अग्नि भी प्राण है—प्राणा अग्निः (शतपथ ब्राह्मण, ६.३.१.२१)। वायु भी प्राण है—वातः प्राणः (ऐतरेय ब्राह्मण २.३.४) तथा आदित्य भी प्राण है—असावादित्यः प्राणः (तैत्तिरीय संहिता, ५.२.५.४)। इस प्रकार प्राणत्वेन अग्नि, वायु, आदित्य तीनों एक हैं। तीनों में जो क्रमशः भेद है वह पूर्वोक्त यजुर्वेद के प्रमाणानुसार पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ लोक से जुड़े होने के कारण*

1. A living organism is a self—organising system which means that its order is not imposed by the environment but is established by the system itself. *Fritjof Capra, Uncommon Wisdom* पृ ८७।



है। पृथिवी पर अग्नि ध्रुव रूप है अर्थात् घन है, अन्तरिक्ष में धरुण है अर्थात् तरल है तथा द्यौं में धर्त्र है अर्थात् विरल है। घनता, तरलता और विरलता के कारण उत्पन्न होने वाला यह भेद अग्नि, वायु और आदित्य के कर्म में भी भेद उत्पन्न कर देता है। अग्नि पदार्थ का जनक बनता है, वायु तदनर्गत क्रिया का जनक बनता है और आदित्य ज्ञान का जनक बनता है। अग्नि पदार्थ का जनक है इसलिए शतपथ ब्राह्मण (१.२.२.२) में उसे विश्वकर्मा कहा गया है—*विश्वकर्माऽयमग्निः। वायु भी विश्वकर्मा है, किन्तु उसका मुख्यधर्म बहना है—अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवते (शतपथ ब्राह्मण, ८.१.१.७)। आदित्य का भी विश्वकर्मा से सम्बन्ध है—विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पातु (शतपथ ३.५.२.७)। किन्तु आदित्य ज्ञान का आधान करता है—स एवास्मिन् ब्रह्मवर्चसं दधाति (तैत्तिरीयसंहिता, २.३.२.३)। इस प्रकार एक ही देव अग्नि, वायु और आदित्य के रूप में क्रमशः अर्थ, क्रिया और ज्ञान का निर्माण करते हुए विश्वकर्मा होता है।*

### देवत्रयी तथा वेदत्रयी

वेदान्त में यही अग्नि, वायु, आदित्य क्रमशः विराट, हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ की संज्ञा पाते हैं। व्यष्टि के स्तर पर यही क्रमशः वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ कहलाते हैं।

जिस प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौं का सम्बन्ध अग्नि, वायु और आदित्य से है—*सोऽग्नि-मेवास्मांल्लोकादसृजत वायुमन्तरिक्षलोकात् आदित्यं दिवः (शाङ्ख्यायन ब्राह्मण, ६.१०)।* उसी प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य का सम्बन्ध क्रमशः ऋक्, यजु और साम से है—*सोऽग्नेरेवर्चेऽसृजत वायोर्यजूषि आदित्यात् सामानि (शाङ्ख्यायन ब्राह्मण ६.१०)।* इसी की पुष्टि करते हुए मनु ने कहा है कि अग्नि, वायु और रवि से क्रमशः ऋक्, यजुः और साम का दोहन किया गया—

*अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।*

*दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृक्, यजुः साम लक्षणम्॥*

(मनुस्मृति, १.२३)

हमने ऊपर प्रतिपादित किया है अग्नि पिण्ड का निर्माण करता है, वायु उसमें गति का सञ्चार करता है और आदित्य ज्ञान का आधान करता है। जो कार्य अग्नि, वायु, आदित्य करते हैं वही कार्य ऋक्, यजुः और साम करते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.२.९) के अनुसार ऋक् से समस्त मूर्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं यजुः से समस्त गति और साम से समस्त तेज—

*ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।*

*सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥*

इस विवरण से अग्नि वायु आदित्य का ऋक् यजुः साम से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि पदार्थ का निर्माण करता है उसी प्रकार ऋक् से समस्त मूर्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार वायु समस्त गति का कारण है उसी प्रकार यजु भी समस्त गति का स्रोत है। जिस

१. शतपथ १.१.५.८.३ भी कहता है—स इमानि त्रीणि ज्योतिष्यभितताप। तेभ्यस्तपेभ्यस्त्रयो वेदाः अजायन्तान्नेर्ऋग्वेदो—वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।



प्रकार आदित्य ब्रह्मवर्चस का कारण है कि उसी प्रकार साम तेज का । यद्यपि ऋक् यजुः साम से हम सामान्यतः शब्दराशि को ग्रहण करते हैं, किन्तु स्वयं ऋग्वेद (१०.१०.९) में कहा गया है कि ऋक् यजुः और साम यज्ञ से उत्पन्न हुए—

*तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।*

*छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥*

स्पष्ट है किसी यज्ञ से कोई शब्दराशि या ग्रन्थ उत्पन्न नहीं हो सकता । अतः यहाँ ऋक्, यजुः, साम से किन्हीं तत्त्वों की ही चर्चा अभिप्रेत है । इस बात की पुष्टि मनु से भी होती है, क्योंकि वे कहते हैं कि वेद से ही शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध उत्पन्न हुए—

*शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।*

*वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥*

ऋक् यजुः और साम तीन तत्त्व हैं जिससे मूर्ति, गति और तेज का निर्माण होता है । इस बात के समर्थन में ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक प्रमाण मिलते हैं । उदाहरणतः शतपथ (१.६.३.२९) कहता है—*अस्थि वा ह्यक्* अर्थात् ऋक् अस्थि है । स्पष्ट है कि अस्थि हमारे शरीर का ठोस भाग है । और वहाँ ऋक् का सम्बन्ध अस्थि से जोड़कर ऋक् को मूर्त पदार्थों से जोड़ा गया है । यजु शब्द की उत्पत्ति देते समय शतपथ (१०.३.५.१-२) कहता है कि यजुः शब्द यत् और जू को मिलाकर बना है—यत् का सम्बन्ध गति से है, जू का सम्बन्ध स्थिति से है यत् वायु को बताता है, जू आकाश को बताता है । जिस प्रकार स्थिर आकाश में वायु गति करता है उसी प्रकार स्थिति को आधार बनाकर समस्त गति हो रही है—*एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयत्येतं यन्तमिदमनु प्रजायते तस्माद्वायुरेव यजुः । अयमेवाकाशो जूः । यदिदमन्तरिक्षं ह्याकाशमनु जवते तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षं च यच्च जूश्च तस्माद्यजुः ।* इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (१०.५.१.५) कहता है कि अर्चि ही साम हैं—*अर्चिः सामानि ।* अभिप्राय यह है कि ऋक् यजुः साम का मूर्ति का सम्बन्ध गति और तेज से समस्त ब्राह्मण साहित्य में बारम्बार बताया गया है ।

## सोमवेद : अथर्ववेद

अग्नि, वायु, आदित्य तीनों अग्नि के रूप हैं जिनका सम्बन्ध क्रमशः ऋक्, यजुः और साम से है । इसलिए ऋक् यजुः साम की त्रयी अग्निवेद है । चतुर्थवेद अथर्ववेद सोमवेद है । ऊपर जो हमने तैत्तिरीय ब्राह्मण का उद्धरण दिया है उसमें कहा है कि ब्रह्म से ही सब उत्पन्न हुआ । गोपथ (१.२.१८) में ब्रह्मा को सर्वविद् तथा अथर्ववेदविद् कहा है—*एष ह वै विद्वान्त्सर्वविद् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोविद्<sup>१</sup> ।*

अथर्ववेद का नाम ब्रह्मवेद है । क्योंकि अथर्ववेद का सम्बन्ध सोम से है और सोम का सम्बन्ध चन्द्रमा से है—काठकसंहिता (१.१.३) में कहा गया है कि चन्द्रमा ही सोम राजा है—अतः गोपथ ब्राह्मण (पूर्व १.२.९) में अथर्वा का देवता चन्द्रमा बताया गया है तथा इसका स्थान आपः

१. भृग्वङ्गिरोविद् का अर्थ है अथर्ववेदविद् ।



बताया गया है—

अथर्वणां चन्द्रमा देवतम् । तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दांस्यापःस्थानम् ॥

उल्लेखनीय है कि शतपथ ब्राह्मण (७.१.१.२२) में आपः को सोम कहा गया है—*आपः सोमः* । अतः गोपथब्राह्मण के उपर्युक्त उद्धरण द्वारा अथर्ववेद का सोम से सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है । इसी आधार पर हमने अथर्ववेद को सोमवेद कहा है ।

निष्कर्ष यह है कि ऋक्, यजुः, साम अग्निवेद है, अथर्ववेद सोमवेद है । अग्निवेद और सोमवेद का परस्पर गहरा सम्बन्ध है । क्योंकि अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है और वैदिक वाङ्मय में यज्ञ की अवधारणा का केन्द्रीय स्थान है, इसलिए अग्नि और सोम के सम्बन्ध में थोड़ी विस्तार से चर्चा करनी होगी ।

### अग्नि और सोम का द्वन्द्व

अग्नि अन्नाद है; वह अन्न को खाता है—*अग्निर्वै देवानामन्नादः (तैत्तिरीयसंहिता ५.४.९.२)* सोम अन्न हैं—*अन्नं वै सोमः (मैत्रायणी संहिता ३.१०.७)* काठक संकलन (१४०) में इस अन्न-अन्नाद सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है—*सोमोऽन्नमग्निरन्नादः* । यह अन्न-अन्नाद-सम्बन्ध ही जगत् का आधार है । इसलिए बृहज्जाबालोपनिषद् (२.४) में कहा गया है कि जगत् अग्नि-सोमात्मक है—*अग्नीषोमात्मकं जगत्* । जगत् शब्द का शब्दार्थ है निरन्तर गमनशील । गमनशीलता से तात्पर्य परिवर्तनशीलता से है । पदार्थ उत्पन्न होता है, अस्तित्व में आता है, बढ़ता है, बदलता है, क्षीण होता है और नष्ट हो जाता है । यास्काचार्य (निरुक्त १.१) इन छः भावविकारों का उल्लेख करते हैं—*जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति* । प्रश्न होता है कि पदार्थ में यह परिवर्तन किस कारण होता है ? उत्तर यह है कि पदार्थ आस-पास के परिवेश से प्रभावित होता रहता है । उस प्रभाव का अर्थ यह है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को आत्मसात् कर लेता है । जो पदार्थ आत्मसात् किया जाता है वह सोम है; जो पदार्थ आत्मसात् करता है वह अग्नि है । प्रबल प्राण वाला निर्बल प्राण वाले को आत्मसात् कर लेता है । हम ऊपर शतपथ ब्राह्मण (६.३.१.२१) का प्रमाण देकर यह बता चुके हैं कि अग्नि प्राण है—*प्राणा अग्निः । कौषीतकि ब्राह्मण (९.६)* कहता है सोम भी प्राण है—*प्राणः सोमः* । क्योंकि अग्नि और सोम दोनों ही प्राण हैं, इसलिए दोनों में मौलिक भेद नहीं है । अग्नि और सोम में सख्य-भाव है । ऋग्वेद (५.४४.१५) कहता है—*अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः* ।

### संवत्सर यज्ञ

अग्नि और सोम का यह द्वन्द्व ही ऋतु-चक्र का कारण है । वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा में अग्नि का विकास होता है, शरद् हेमन्त और शिशिर में अग्नि का हास होता है । जो अग्नि का विकास है, वह सोम का हास है । जो अग्नि का हास है, वह सोम का विकास है । इस ऋतुचक्र का नाम ही संवत्सर है—*ऋतवस्संवत्सरः (जैमिनीय ब्राह्मण ३.१५४)* । संवत्सर को शतपथब्राह्मण (१.१.१.१) में प्रजापति कहा गया है—*संवत्सरो वै यज्ञः प्रजापतिः* । वहाँ संवत्सर को प्रजापति



के साथ यज्ञ भी बताया गया है। हम कह चुके हैं कि अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है। यज्ञ का एक अर्थ है—सङ्गतिकरण। अग्नि और सोम का मिल जाना यज्ञ है। क्योंकि ऋतुओं में अग्नि और सोम परस्पर मिलते हैं, अतः संवत्सर को यज्ञ कह दिया गया है। इस विषय का विस्तार अनुपद ही और भी किया जायेगा।

### गति-आगति

अग्नि और सोम परस्पर विरोधी स्वभाव के हैं। अग्नि गति है, सोम आगति। अग्नि विकास है, सोम संकोच। यह सृष्टि दो विरोधी भावों के सम्मिश्रण से ही बनती है। पुरुष और स्त्री का युगल भी अग्नि और सोम के युगल का ही एक रूप है। चीनी-चिन्तन में Yang तथा Yin इसी प्रकार के द्वन्द्व को बतलाता है।

### यज्ञ : प्रकृति की कार्यप्रणाली

अग्नि में सोम की आहुति यज्ञ है और यह यज्ञ ही भुवन का केन्द्र बिन्दु है—*यज्ञमाहुर्भुवनस्य नाभिम* (तैत्तिरीय संहिता ७.४.१८.२)। जिस पदार्थ में दूसरा कोई पदार्थ आहुति बनता है उस आहुति के पूरे भाग को वह पदार्थ आत्मसात् नहीं कर पाता। जितने भाग को वह आत्मसात् करता है उतना उसका अन्न है, ब्रह्मौदन है—*यत्सौम्यमाहरन्ति तेन ब्रह्मौदनः* (जैमिनीयब्राह्मण २.३०)। जो अंश ब्रह्मौदन नहीं बन पाता वह पदार्थ से अलग होने के कारण प्रवर्ग्य कहलाता है—*अथ यत्रावृज्यत तस्मात्प्रवर्ग्यः* (शतपथब्राह्मण १४.१.१.१०)। पदार्थ से छिटक कर अलग हो जाने वाला यह प्रवर्ग्य किसी अन्य पदार्थ का ब्रह्मौदन बन जाता है। यही वह सङ्गतिकरण है अर्थात् एक दूसरे से मिलना है जिसे यज्ञ कहा जाता है। प्रवर्ग्य के बिना कोई यज्ञ सम्भव नहीं है इसलिए प्रवर्ग्य को यज्ञ का सिर कहा जाता है—*शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत्प्रवर्ग्यः* (गोपथब्राह्मण २.२.६)।

यज्ञ में होने वाली आदान-प्रदान की क्रिया गति के बिना सम्भव नहीं है और कोई गति प्राण के बिना सम्भव नहीं है। हम पहले ही कह चुके हैं कि देव प्राण है—*प्राणा देवाः* (शतपथ ७.५.१.२१) गति दो भागों में बाँटी जा सकती है—एक केन्द्र से परिधि की ओर; दूसरी परिधि से केन्द्र की ओर। केन्द्र से परिधि की ओर गति इन्द्र प्राण के कारण होती है। परिधि से केन्द्र की ओर गति विष्णुप्राण के कारण होती है। ये दोनों गतियाँ साथ-साथ चलती रहती हैं। मानों दोनों में होड़ लगी रहती है, किन्तु इन दोनों गतियों में से न कोई हारती है, न कोई जीतती है—

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैः।

इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदरयेथाम् ॥

(ऋग्वेद ६.६९.८)

इन्द्र बहिर्गति करता है। यह विकास है। यही अग्नि का जनक है। विष्णु अन्तर्गति करता है। यह संकोच है। यह सोम का जनक है। बहिर्गति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच कर अन्तर्गति में परिणत हो जाती है और अन्तर्गति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच कर बहिर्गति में परिणत हो जाता है। परिणामस्वरूप अग्नि सोम में और सोम अग्नि में बदल जाता है। जो अन्न हम खाते हैं वह



शरीर में जीवन की ऊष्मा बनाये रखता है। यह सोम का अग्नि में परिणत होने का प्रत्यक्ष उदाहरण है। यदि अग्नि को भोक्ता और सोम को भोग्य मानें तो भी यह स्पष्ट है कि हिरण तृण खाते समय भोक्ता है, किन्तु वही हिरण सिंह द्वारा खाये जाने पर भोग्य हो जाता है। अभिप्राय यह है कि भोक्तृभोग्यभाव सापेक्ष है और यह सापेक्षता ही पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन का मूलमन्त्र है। बाल्यावस्था में जो पुत्र पिता पर आश्रित होता है, युवावस्था में वही पुत्र पिता का आश्रय बन जाता है।

### त्रिदेव : इन्द्र-विष्णु-ब्रह्मा

ऊपर हमने दो गतियों की चर्चा की—अन्तर्गति तथा बहिर्गति। अन्तर्गति विष्णु के कारण है—इसलिए विष्णु को यज्ञ कहा जाता है—*विष्णुर्वै यज्ञः (मैत्रायणी संहिता ४.४.७)*। बहिर्गति का कारण इन्द्र है। इसलिए यज्ञ को इन्द्र का शरीर बताया गया है—*इन्द्रस्य वा एषा यज्ञीया तनूर्यद्यज्ञः (तैत्तिरीय संहिता ३.३.७.३)*। विष्णु का आदान और इन्द्र का प्रदान पदार्थ में परिवर्तन करता रहता है किन्तु इस परिवर्तन के बीच भी पदार्थ की स्थिरता बनी रहती है। यही ब्रह्मा है। ये विष्णु, इन्द्र और ब्रह्मा मिलकर पदार्थ का स्वरूप बनाते हैं इसलिए इन्हें शतपथ ब्राह्मण (१४८.४.१) प्रजापति या हृदय कहता है। यही ब्रह्म है। हृदय शब्द की व्युत्पत्ति देते समय ब्राह्मण ग्रन्थ कहता है कि हृदय में हृ आहरण का सूचक है, द दान का सूचक है, यम् नियमन करने वाला है—*एष प्रजापतिर्यद्दधृदयम् । एतद् ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्क्षरं हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद इत्येकमक्षरं ददन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ।*

इन्द्रप्राण से अग्नि और विष्णुप्राण से सोम का निर्माण होता है। अग्नि और सोम मिलकर पदार्थ का पृष्ठ भाग बनाते हैं। इन्द्र, विष्णु, ब्रह्म, अग्नि, सोम पाँचों ही प्राण हैं। ऐतरेय आरण्यक (२.२.२) में कहा है कि क्योंकि प्राण सब भूतों में से क्षरित होता है, किन्तु स्वयं प्राण का क्षरण नहीं होता है इसलिए प्राण अक्षर है—*स यदेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यः क्षरति न चैनमतिक्षरन्ति तस्मादक्षरम् ।* इसी श्रुति प्रमाण को आधार बनाकर गीता (१५.१६-१७) में क्षर-अक्षर की चर्चा है। इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, अग्नि, और सोम पाँचों ही प्राण हैं। इसलिए इन्हें प्राण प्रधान अक्षरपुरुष की पाँच कलाएं कहा जाता है।

इन पाँच प्राणों में भी अग्नि और सोम की संसृष्टि ही सृष्टि का मूल है। ऋग्वेद (१०.९०) के पुरुष सूक्त में यज्ञ से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। वहाँ अभिप्राय यही है कि अग्नि में सोम की आहुति पड़ने से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। जिस यज्ञ के द्वारा प्रजापति ने सृष्टि उत्पन्न की उस यज्ञ का वर्णन शतपथ ब्राह्मण (११.१.६.१३-१९) में बहुत विस्तार से है।

ऋग्वेद का “पुरुष सूक्त” (ऋग्वेद १०.९०) भी यज्ञ से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। यज्ञ से सृष्टि की प्रक्रिया को कई प्रकार से समझा जा सकता है। समस्त सृष्टि दो के मेल से पैदा होने वाली है—संसृष्टि है। दूसरी ओर संसार में मूल तत्त्व एक ही है। यह एक तत्त्व जब तक दो भागों में विभक्त न हो, सृष्टि नहीं कर सकता। इसलिये सृष्टि का मूल है एक से अनेक हो



जाना—एकोऽहं बहु स्याम ।

### ऋषि-प्राण

एक दो में कैसे परिणत हो इसका उत्तर गति है । गति का अर्थ है प्राण । जो प्रथम गति है उसे ऋषि कहते हैं । ऋषि का यह अर्थ सामान्यतः हमें अटपटा लगेगा, किन्तु शास्त्र इस सम्बन्ध में स्पष्ट कह रहा है—

वे ऋषि कौन थे ? निश्चय प्राण ही ऋषि थे । सर्वप्रथम इच्छा, श्रम और तप से उन्होंने गति की, इसलिये वे ऋषि कहलाये ।

के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः  
श्रमेण तपसारिषंस्तस्माद्ऋषयः (शतपथ ब्राह्मण ६.१.१.१)

वैदिक साहित्य के सन्दर्भ में इस प्रकार के शब्दों के उन पारिभाषिक अर्थों को देखकर जो प्रचलित नहीं हैं, यह नहीं समझना चाहिये कि उन शब्दों का प्रचलित अर्थ अशुद्ध है । वेद मन्त्रों के द्रष्टा भी ऋषि हैं । इतना और समझ लेना चाहिये कि जिस ऋषि ने जिस प्राण तत्त्व का साक्षात्कार किया उस प्राण के नाम पर उस ऋषि का यशोनाम पड़ गया । उदाहरणतः विश्वामित्र प्राण के द्रष्टा ऋषि भी विश्वामित्र नाम से प्रसिद्ध हो गये ।

### पितर प्राण

ऋषि प्राण ही जब भृगु और अङ्गिरा दो भागों में विभक्त होते हैं तो पितर प्राण बनते हैं । भृगु और अङ्गिरा का सम्मिलित रूप ही आपः है । भृगु शीतल धारा है अङ्गिरा उष्ण धारा है । इन दोनों के मिश्रण से आपः बनता है जो सामान्यतः जल का पर्यायवाची माना जाता है वस्तुतः वह सोम का पर्यायवाची है । वस्तुतः जिस प्रकार अग्नि के तीन रूप हैं उसी प्रकार सोम के भी तीन रूप हैं । विरल रूप सोम है, तरल रूप आपः है, घन रूप वायु है । अग्नि का एक नाम रुद्र है । जो व्याकुलतावश रोता है, वह रुद्र है—अग्निर्वै रुद्रो यदरोदीत्तस्माद् रुद्रः (शतपथ ब्राह्मण ६.१.१३.१०) अग्नि का यह रुद्रन उसकी बुभुक्षा या अशनाया के कारण होता है । प्रत्येक पिण्ड के आदि, मध्य और अन्त तीन भाग हैं । ये ही उसके भूः, भुवः, स्वः अथवा भूमि, अंतरिक्ष और द्यौ हैं । उस पिण्ड के चारों ओर आपः तत्त्व है । जिसे चतुर्थलोक कहा जाता है ।—आपो वै चतुर्थः लोकः । इस आपः लोक में आपः तत्त्व व्याप्त है पिण्ड में रखी हुई अग्नि का जो रुद्रन है उसे आपोलोक में स्थित यह 'आपः' ही शान्ति करता है । यह अग्नि इस आपः लोक से सोम तत्त्व को ग्रहण करके अग्नि रूप में परिणत कर देती है और इस प्रकार पिण्ड का निर्माण होता रहता है । क्योंकि यह आपः लोक सोम की आहुति देकर पिण्ड का निर्माण करता है इसलिए इसे पितृलोक भी कह सकते हैं । कहने को आपः सोम है पर उसमें अग्नि और सोम दोनों ही हैं । भृगु सोम है, अङ्गिरा अग्नि है । दोनों का समन्वय आपः है—

आपोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम् ।

अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥ (गोपथब्राह्मण पूर्व भाग १.१२९)



पितृ तत्त्व में माता और पिता दोनों ही आते हैं। आपः की आहुति से अग्नि पृष्ठ होता है। इधर अग्नि आपः में बीज का आधान करता है—*सोऽमिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ (मनुस्मृति १.७)* इस प्रकार अग्नि और सोम के सहयोग से सृष्टि चलती है। दाम्पत्य भाव में इस अग्नि और सोम के सहयोग को देखा जा सकता है। पुरुष अग्नि है, स्त्री सोम है। पहले कहा जा चुका है कि अग्नि और सोम का भेद आत्यन्तिक नहीं है। विकासशील अग्नि विकास की चरम सीमा पर पहुंच कर सोम बन जाता है; संकोचशील सोम संकोच की चरम सीमा पर पहुंच कर अग्नि रूप में बदल जाता है। हम में से प्रत्येक में अग्नि और सोम दोनों भाव हैं। प्रत्येक अर्धनारीश्वर है। दक्षिण भाग अग्निप्रधान होने से अधिक सक्रिय है, वाम भाग सोम प्रधान होने से अपेक्षाकृत शान्त है। पुरुष में अग्नि मुख्य है, इसलिए वह अधिक सक्रिय है, बहिर्मुख है। स्त्री शान्त है, अन्तर्मुख है। ये दोनों एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। इन दोनों के दाम्पत्य से ही अध्यात्म यज्ञ का स्वरूप पूरा होता है और सृष्टि होती है।

### संवत्सर प्रजापति

जो स्थिति अध्यात्म में है वही अधिदैव तथा अधिभूत में है। छः ऋतुओं का समूह संवत्सर है। यह संवत्सर सूर्य के चारों ओर भू पिण्ड द्वारा अण्डाकार में घूमने के कारण बनता है। इस अण्डाकार घूमने को ही सर्वत्सर कहा जाता है। यह सर्वत्सर ही संवत्सर होता है—*“स प्रजापतिः सर्वत्सरोऽभवत् । सर्वत्सरो ह वै नामैतत्—यत् सम्वत्सरः ।” (शतपथ ब्राह्मण ११।१।६।१२)* अण्डाकार घूमने का परिणाम यह है कि पृथ्वी कभी सूर्य के निकट आ जाती है कभी सूर्य से दूर हो जाती है। इसलिए पृथ्वी पर कभी गर्मी की मात्रा अधिक होती है, कभी ठण्ड की मात्रा अधिक होती है। यदि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर वर्तुलाकार घूमें, तो सदा एक सा ही तापमान रहे और वनस्पतियाँ कभी फले फूले ही नहीं। एक तापमान विशेष में बीज में अङ्कुर आता है, दूसरे तापमान पर वह अङ्कुर बढ़ता है, तीसरे पर उसमें फूल आता है, पौधे पर फल बनता है और पाँचवे पर फल पकता है। यह प्रक्रिया तापमान या ऋतु के परिवर्तन या चक्र के कारण होती है। ये ऋतु-चक्र सम्वत्सर-यज्ञ हैं जिससे प्रजा उत्पन्न होती है। इसलिए सम्वत्सर को प्रजापति भी कह दिया जाता है।—*संवत्सरो वै यज्ञः प्रजापतिः । (शतपथ ब्राह्मण ११.१.१)* इसी दृष्टि से ऋतुओं को पितर भी कह दिया जाता है—*पितरो वा ऋतवः; (मैत्रायणीसंहिता १-१०-१७)* ऋतुओं में अग्नि और सोम का यही क्रम है कि ये चक्रवत् एक दूसरे में परिवर्तित भी होते रहते हैं। सोम अपने चरम तत्त्व पर पहुंचकर अग्नि में परिणत होने लगता है, अग्नि चरम तत्त्व पर पहुंच कर सोम में परिणत होने लगता है। इस प्रकार ऋतुएं बनती हैं। उष्णता और शैत्य सूर्य और चन्द्र के प्रवर्ग्य हैं। सूर्य अग्नि-पिण्ड है, चन्द्रमा सोम-पिण्ड है।

### ऋत-सत्य

पिण्ड ठोस है, उसे सत्य कहते हैं। उसका केन्द्र होता है, उससे पैदा होने वाले शैत्य और उष्णता का कोई केन्द्र नहीं होता उन्हें ऋत कहते हैं। सत्य और ऋत का जोड़ा है। ऋत पिण्डीभूत होकर सत्य बन जाता है, सत्य विरल बनकर ऋत बन जाता है। पृथ्वी को ऋत तथा द्यौ को सत्य



कहा है—इयं (पृथिवी) वा ऋतम् असौ (द्यौः) सत्यम् (तैत्तिरीयसंहिता ५.१.५.८) सारांश यह है कि एक पिण्ड जिसका केन्द्र हो, सत्य है और एक तरल पदार्थ, जिसका केन्द्र न हो, ऋत है। सूर्य सत्य अग्नि है, चन्द्रमा सत्य सोम है। सूर्य की उष्णता ऋताग्नि है, चन्द्रमा का शैत्य ऋतसोम है। ऋत-सोम और ऋत-अग्नि के संसर्ग से ही ऋतुएं बनती हैं। वस्तुतः मूल ऋतु दो ही हैं—रात और दिन। अग्नि का प्रतीक दिन है, सोम का प्रतीक रात्रि है—द्वौ वा ऋतू अहश्च रात्रिश्च (मैत्रायणी संहिता ३.७.१०) संवत्सर ही यज्ञ है। अध्यात्म में सृष्टि स्त्री-पुरुष से हो रही है। स्त्री सोम है और पुरुष अग्नि है। वनस्पति जगत् में ऋतुचक्र उत्पत्ति कर रही है। शैत्य सोम है, उष्णता अग्नि है। सारांश यह है कि अग्नि और सोम का सम्बन्ध ही यज्ञ है और यह यज्ञ ही सृष्टि को उत्पन्न करता है।

### विश्व के पाँच पर्वों में अग्नि-सोम

अग्नि और सोम का यह क्रम पूरे विश्व में देखने में आता है। हम अपनी ओर से चलें, तो पृथ्वी सर्वप्रथम है। पृथ्वी अग्निप्रधान है। पृथ्वी के अनन्तर चन्द्रमा है। चन्द्रमा सोम प्रधान है। फिर सूर्य है। सूर्य पुनः अग्निप्रधान है। इस सूर्य के बाद भी एक लोक है, जिसे हमने ऊपर आपोलोक कहा, उसे ही शास्त्र में परमेष्ठी कहा है। स्पष्ट है कि यह आपोलोक होने के कारण सोम प्रधान है। इस परमेष्ठी से भी ऊपर एक स्वयंभू लोक है। जैसा नाम से ही स्पष्ट है कि वह स्वयंभू स्वयं ही उत्पन्न हुआ, शेष सृष्टि उसी से उत्पन्न हुई। यह स्वयंभू अग्निप्रधान है। इस प्रकार प्रकृति में अग्नि और सोम का सन्तुलन बना हुआ है। ऊपर जिन पाँच—पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, परमेष्ठी और स्वयंभू-लोकों की हमने चर्चा की है, उसका संकेत शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट दिया है—स ऐक्षत प्रजापतिः इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्ष ता वा एताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-अग्निः (पृथिवी) इन्द्रः सोमः (चन्द्रमाः) परमेष्ठी प्राजापत्यः। (शतपथ ब्राह्मण ११।१।६।१३-१४) इन पाँच पर्वों का सात व्याहृतियों में हम प्रतिदिन संध्या के समय समावेश करते हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। भूपिण्ड भूः है, सूर्यपिण्ड स्वः है। दोनों का मध्यस्थान, जहाँ चन्द्रमा प्रतिष्ठित है, भुवः है। परमेष्ठी जनः है। सूर्य और परमेष्ठी का मध्यस्थान महः है। स्वयम्भू सत्य है। स्वयम्भू और परमेष्ठी का मध्य स्थान तपः है। इस प्रकार तीन त्रिलोकी बन जाती है।

भूः—पृथिवी	] रोदसी	स्वः—पृथिवी	] क्रन्दसी	जनः—पृथिवी	] संयती
भुवः—अन्तरिक्ष		महः—अन्तरिक्ष		तपः—अन्तरिक्ष	
स्वः—द्यौ		जनः—द्यौः		सत्यम्—द्यौः	

इसीलिये शाङ्ख्यायन ब्राह्मण कहता है कि तीनों लोक त्रिवृत हैं—त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोका (शाङ्ख्यायन ब्राह्मण ६.१०)

### षड् रजसू, सात व्याहृति, पाँचमण्डल, त्रिधाम

इस प्रकार सात व्याहृतियों से तीन द्यौ और तीन पृथ्वी बन जाती हैं। षडाहुर्द्यावापृथिवी



(अथर्ववेद ८।१।१६) ऋग्वेद कहता है इन सात में से प्रथम छः तो रज हैं, क्योंकि उनमें गति है, सातवाँ सत्य लोक अज है, क्योंकि वह परोरजा है, सत्वप्रधान है अथवा अज है—*वि यस्तस्तम्भ षष्ठिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्वित्देकम्*। (ऋग्वेद १६४।६) प्रश्न हो सकता है कि यदि सातवाँ लोक अज है उसमें गति है ही नहीं, तो वह शेष लोकों को जन्म कैसे देता है ? वस्तुस्थिति यह है कि स्वयंभू प्राणों का लोक है। जिन्हें हमने ऊपर गति कहा है वे ये ही ऋषि-प्राण हैं। जहाँ शुद्ध गति हो. वह स्थिति में परिणत हो जाती है। गति में तीव्रता या मन्दता स्थिति की मात्रा कम या ज्यादा होने से होती है। जहाँ गति में स्थिति बिलकुल भी नहीं होगी वहाँ गति इतनी तीव्र होगी कि पदार्थ दो स्थानों पर युगपद ही उपस्थित होगा। इसे ही यजुर्वेद में उठरे हुए द्वारा सब अन्य भागने वाले पदार्थों का अतिक्रमण करना कहा है—*तद्भावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत*। (यजुर्वेद ४०.९) इसलिए सत्य लोक को अज कह दिया गया है। यह अमृत लोक है। मनु का कहना है कि यह कहीं से नहीं उत्पन्न होता, इसलिए स्वयंभू है। इस पर ही शेष गतिशील लोक टिके हैं। इन छः लोकों में प्रत्येक भू अपने स्वः के चारों ओर चक्कर लगा रहा है—पृथ्वी सूर्य के, सूर्य परमेष्ठी के और परमेष्ठी स्वयंभू के। इस क्रम में यह समझ लेना चाहिए कि भले ही पृथ्वी की दृष्टि से हम यह कह दें कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा रही है, किन्तु सूर्य भी स्थिर नहीं है। सूर्य के परिभ्रमण का जो केन्द्र है वह परमेष्ठी है और परमेष्ठी के परिभ्रमण का केन्द्र स्वयंभू है। स्वयं स्वयंभू किसी की परिक्रमा नहीं करता। तीन भूमि और तीन द्यौ की बात ऋग्वेद में बारम्बार कही गई है—*तिस्रो भूमीर्धरियन्त्रीरुत द्यून्त्रीणि त्रता विदथे अन्तरेषाम्*। *ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन्वरुण मित्र चारु* (ऋग्वेद २.२७.८) वस्तुतः यह बात ऋग्वेद में बारम्बार दोहराई गई है कि तीन द्यौ, और तीन पृथिवी हैं। (ऋग्वेद १.३४.८।१.३५.६) पृथिवी को माता और द्यौ को पिता कह कर यहाँ भी ऋग्वेद का ऋषि अग्नि और सोम के सम्बन्ध को ही ध्यान में रखे है। (ऋग्वेद १.६४.१०)

इस प्रकार पूरे विश्व को हम तीन प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—१. सात व्याहृतियाँ २. पाँच मण्डल और ३. तीन धाम ! पाँच मण्डलों को जब तीन धाम में बाँटते हैं तो स्वयंभू और परमेष्ठी परम धाम है, सूर्य मध्यम धाम है और पृथिवी तथा चन्द्रमा अवमधाम है। इन तीनों धामों का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है—*या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मनुतेमा*। *शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः* (ऋग्वेद १०.८१.५) यही तीन द्यावापृथ्वी है।

### तीन द्यावापृथिवी

प्रारम्भ में शक्ति का एक सम रूप था, जिसे आपः कहा जाता है, उसमें तरङ्गों का स्पन्दन प्रारम्भ हुआ। इससे उसमें बिन्दु उत्पन्न हुए, जो प्रकाश और तेज के पुञ्ज बन गये। समभाव से विपरीत शक्ति की अवस्था हिरण्यगर्भ है, जिसमें व्यक्त हिरण्य समाहित है। शक्ति में क्षोभ उत्पन्न होता है। क्षोभ के पहले की अवस्था संयती अर्थात् शान्त अवस्था है। क्षुब्ध अवस्था क्रन्दसी है, और उस क्षोभ से उत्पन्न होने वाली अवस्था रोदसी है। इस प्रकार भूः, भुवः, स्वः, क्षोभ



के अनन्तर की स्थिति है; स्वः, महः, जनः क्षोभ की स्थिति है और जनः, तपः, सत्यम् क्षोभ के पहले की स्थिति है। भूः, भुवः, स्वः हमारी धावापृथ्वी है, जिसे रोदसी कहते हैं। स्वः, महः, जनः की त्रिलोकी में परमेष्ठी है, जहाँ क्षोभ प्रारम्भ होता है और जनः, तपः, सत्यम् क्षोभ के पहले की स्थिति है, जिसमें स्वयंभू मण्डल है। क्षोभ से सूर्य का जन्म होता है। वह समुद्र के बीच मानो एक जल बिन्दु के समान है।

इनमें चन्द्रमा भू-पिण्ड के, भू-पिण्ड सूर्य के, सूर्य परमेष्ठी के और परमेष्ठी स्वयंभू के चारों ओर परिभ्रमणमाण है। इनमें चन्द्रमा परः ज्योति है, भू-पिण्ड रूप ज्योति है, सूर्य पिण्ड स्वज्योति है। परमेष्ठी ऋतपिण्ड है। स्वयंभू सत्य पिण्ड है। इन पाँच पर्वों का वेद में अनेकत्र वर्णन है।

## सूर्य से परे परमेष्ठी

उपर्युक्त पाँचों पिण्डों में चन्द्रमा तो स्पष्ट ही सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है साथ ही साथ स्वयं सूर्य भी परमेष्ठी के सोम से अपनी अग्नि को प्रज्वलित रखता है—परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवः पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं भास्वतीं रश्मिवतीमा या दिवं भास्यापृथिवीमोर्वन्तरिक्षं दिवं यच्छ .....सूर्यस्त्वाभिपातु। (मैत्रायणीसंहिता २ ८ १४) क्योंकि अग्निमात्र का स्वभाव है कि वह सोम की आहुति के बिना प्रज्वलित नहीं रह सकती। सोम ऋत रूप है, इसलिये परमेष्ठी को ऋत कहा गया है—ऋतमेव परमेष्ठी (तैत्तिरीयब्राह्मण १ १५ १५) इसलिये परमेष्ठी को “आपः” कहा जाता है—आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी (शतपथब्राह्मण ८ १२ १३ १३) इस परमेष्ठी से जिस आपः की वर्षा होती है उसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट है—परमाद्वा एतत्स्थानाद्ब्रषति यदिवस्तस्मात्परमेष्ठी नाम। (शतपथ ब्राह्मण ११ ११ १६ १३-१९) एक कामप्र यज्ञ का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में एक कथा के रूप में दिया है। शतपथ ब्राह्मण की कथाएं किस प्रकार सृष्टि विद्या का मर्म खोलती है उसका एक निदर्शन यह सन्दर्भ है, अतः इसे सानुवाद उद्धृत किया जा रहा है।

स ऐक्षत प्रजापतिः। इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत्संवत्सरमिति तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत यद्भेव चतुरक्षरः संवत्सरश्चतुरक्षरः प्रजापतिस्तेनो है वास्यैष प्रतिमा। ता वा एताः। प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्ताग्निरिन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः। ताः सहस्रायुषो जज्ञिरे। ता यथा नद्यै पारं परापश्यदेवं स्वस्यायुषः पारं पराचख्युः। ता अर्चन्त्यः श्राम्यन्त्यश्चेरुः। तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्यद्दर्शपूर्णमासौ ताभ्यामयजत ताभ्यामिष्ट्वा कामयताहमेवेदं सर्वं स्यामिति स आपोऽभवदापो वा इदं सर्वं ता यत्परमे स्थाने तिष्ठन्ति यो हीहाभिखनेदप एवाभिनिन्देत्परमाद्वा एतत् स्थानाद्ब्रषति यदिदवस्तस्मात्परमेष्ठी नाम। स परमेष्ठी प्रजापतिं पितरमब्रवीत्। कामप्रं वा अहं यज्ञमदर्श तेन त्वा याजयानीति तथेति याजयत्स इष्ट्वा कामताहमेवेदं सर्वं स्यामिति स प्राणोऽभवत् प्राणो वा इदं सर्वमयं वै प्राणो योऽयं पवते स प्रजापतिस्तस्य दृष्टिर्यदेव वेदेत्याद्वातीति यद्वैकिंच प्राणि स प्रजापतिः स यो हैवमेतां प्रजापतेदृष्टिं वेदाविरिव हैव भवति। स प्रजापतिरिन्द्रं



पुत्रमब्रवीत् । अनेन त्वा कामप्रेणयज्ञेन याजयानि येन मामिदं परमेष्ठ्ययीयजदिति तथेति तमयाजयत्स इष्ट्वाकामयताहैमेवेदं सर्वं स्यामिति स वागभवद्वाग्वा इदं सर्वं तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति ॥ स इन्द्रोऽग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीत् । अनेन वां कामप्रेण यज्ञेन याजयानि येन मामिदं पिता प्रजापतिरयीयजदिति तथेति तादयाजयताविष्ट्वाकामयेतामावमेवेदं सर्वं स्यावेति तयोरन्नाद एवान्यतरोऽभवदन्नमन्यतरोऽन्नाद एवाग्निरभवदन्नं सोमोऽन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च ।

अर्थात् प्रजापति ने सोचा और अपनी प्रतिमा बनायी । उसकी यही प्रतिमा सम्वत्सर है, इसलिए सम्वत्सर को प्रजापति कहते हैं, क्योंकि सम्वत्सर में भी चार अक्षर हैं । अतः यह चार अक्षर वाले प्रजापति की प्रतिमा है । प्रजापति से देवता उत्पन्न हुए—अग्नि, इन्द्र, सोम, परमेष्ठी और स्वयम्भू । ये देवता सहस्र वर्ष की आयु वाले हुए । जैसे कोई व्यक्ति नदी का दूसरा किनारा देख ले, ऐसे इन्होंने अपनी आयु का छोर देख लिया । वे प्रज्वलित होकर श्रम करते हुए विचरण करते रहे । परमेष्ठी प्राजापत्य ने दर्शपूर्णमास यज्ञ देखा । उससे यज्ञ किया और यह कामना की कि यह सब कुछ मैं बन जाऊं । वह आपः हो गया । यह सब कुछ आपः ही है । यही कारण है कि परम स्थान में स्थित है जो खोदे वह भी नीचे जल ही पाता और परम द्यौ से जल ही बरसता है इसलिए उसका नाम परमेष्ठी है । उस परमेष्ठी ने अपने पिता प्रजापति से कहा—मैंने कामप्र यज्ञ को जाना है । उसी से मैं तुम्हें यज्ञ करवाऊंगा । प्रजापति ने कहा—ठीक है । परमेष्ठी ने प्रजापति को यज्ञ करवाया । वह प्राण हो गया । यह सब कुछ प्राण ही है जो यह बह रहा है वह प्रजापति है उसकी दृष्टि जो जानती है—वह बहता है । जो भी प्राणी है प्रजापति है जो प्रजापति की दृष्टि जानता है वह मानों प्रकट हो जाता है । उस प्रजापति ने अपने पुत्र इन्द्र से कहा—मैं तुम्हें कामप्र यज्ञ कराऊंगा, जो यज्ञ मुझे परमेष्ठी ने करवाया है । इन्द्र ने कहा—ठीक है । प्रजापति ने इन्द्र को यज्ञ करवाया । इन्द्र ने चाहा कि मैं यह सब कुछ हो जाऊं । इन्द्र वाक् हो गया । वह सब कुछ वाक् ही है, इसलिए कहते हैं कि इन्द्र वाक् है । उस इन्द्र ने अपने दो भाई अग्नि और सोम से कहा—मैं तुम्हें वही कामप्र यज्ञ करवाऊंगा जो मुझे मेरे पिता प्रजापति ने करवाया । अग्नि और सोम ने कहा—ठीक है । उन दोनों ने यज्ञ किया और चाहा कि हम दोनों सब कुछ हो जायें । उन में से एक अन्नाद हो गया और एक अन्न हो गया । अन्नाद ही अग्नि हो गया और अन्न सोम । यह सब कुछ अन्न और अन्नाद ही है ।

इस सन्दर्भ में पाँच देवता, पाँच लोक, और क्षर की पाँच कलाओं का स्पष्ट उल्लेख है । क्षर की इन पाँच कलाओं से बने पाँच लोकों की समष्टि ही विश्व है ।

कामप्र यज्ञ में स्वयं स्वयंभू ने अपनी आहुति दी तो सृष्टि का सर्जन हुआ । हमारे अध्यात्म में भी निरन्तर यज्ञ हो रहा है जिसके द्वारा अन्न ऊर्क में तथा ऊर्क प्राण में परिवर्तित होता रहता



है। यह भी यज्ञ का एक स्वरूप है—अन्नोर्क प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः। इसी जठराग्नि को वैश्वानर भी कहते हैं—अयमग्निवैश्वानरः योऽयमन्तः पुरुषे। येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते (शतपथब्राह्मण १४.८.१०.१) अग्नि, वायु और आदित्य-तीनों का समन्वय है, किन्तु अग्नि तत्त्व इसमें मुख्य है इसलिए इसे अग्नि कहा जाता है—स यः स वैश्वानरः। इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वमग्निर्नरः। अन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरः। द्यौरैव विश्वमादित्यो नरः (शतपथब्राह्मण १.३.१.३) प्रश्न होता है कि वैश्वानर की इस क्रिया से हमारा शरीर कैसे बनता है ?

### अध्यात्म यज्ञ

हम कह चुके हैं कि कामप्र यज्ञ में स्वयं स्वयम्भू ने अपनी आहुति दी तो सृष्टि का सर्जन हुआ। हमारे अध्यात्म में भी निरन्तर यज्ञ हो रहा है जिसके द्वारा अन्न ऊर्क में तथा ऊर्क प्राण में परिवर्तित होता रहता है। यह भी यज्ञ का एक स्वरूप है—अन्नोर्क प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः। जठराग्नि अन्न को पचाती है यह भी पहले कहा जा चुका है। इसी जठराग्नि को वैश्वानर भी कहते हैं—अयमग्निवैश्वानरः योऽयमन्तः पुरुषे। येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते (शतपथ ब्राह्मण १४.८.१०.१) यह वैश्वानर अग्नि, वायु और आदित्य-तीनों का समन्वय है, किन्तु अग्नि तत्त्व इसमें मुख्य है इसलिए इसे अग्नि कहा जाता है—स यः स वैश्वानरः। इमे स लोकाः। इयमेव पृथ्वी विश्वमग्निर्नरः। अन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरः। द्यौरैव विश्वमादित्यो नरः (शतपथ ब्राह्मण १.३.१.३) प्रश्न होता है कि वैश्वानर की इस क्रिया से हमारा शरीर कैसे बनता है ?

### दधि, मधु, घृत से अन्न का निर्माण

अग्नि का काम है—विशकलन। जो अन्न जठराग्नि में गया वह विशकलन से दो भागों में बँटा। कुछ भाग रस बन गया कुछ बच गया। जो बचा उस में फिर विशकलन हुआ। उसका कुछ भाग रुधिर बना, कुछ फिर बच गया। इस प्रकार बचते हुए भाग के माध्यम से क्रमशः मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र का निर्माण हुआ। इन सात धातुओं का निर्माण अन्न के पार्थिव भाग से हुआ, जिसे दधि कहा जाता है।

अन्तिम धातु शुक्र का जब अग्नि से फिर विशकलन हुआ तो अन्न का आन्तरिक्ष्य भाग प्रकट हुआ। अन्न का यह आन्तरिक्ष्य भाग 'ओज' कहलाता है। यही घृत है।

इस ओज की जठराग्नि में फिर आहुति पड़ी तो, अन्न का दिव्य भाग, जो मधु कहलाता है, मन में परिणत हो गया। इस प्रकार अन्न ही मन में बदला—अन्नमयं हि सौम्य मनः।

अन्न से जो ऊर्क अर्थात् ऊर्जस्विता होती है, वही प्राण में बदल जाती है—प्राणो वान्मृ (तैत्तिरीय आरण्यक १.७) अन्न से ऊर्क, ऊर्क से प्राण—यही अध्यात्म यज्ञ है।

ऊपर हमने अन्न के जिन तीन भागों का उल्लेख किया उनमें 'दधि' पार्थिव भाग है, जो अन्न का घन भाग है। अन्न में स्निग्धता या जो चिक्कणता रहती है, वही घृत भाग है। अन्न का तीसरा भाग मधु है, जो सौर अंश से आता है। इसी से अन्न में मिठास पैदा होता है। दधि से घन अंश बनता है। मधु से रस, रक्त, शुक्र आदि तरल द्रव्य बनते हैं। इन तीनों अंशों का उल्लेख



शतपथ ब्राह्मण में है—एतदु परममन्नं यदधि मधु घृतम् (शतपथ ब्राह्मण ९।२।११२)

इसके अतिरिक्त अन्न में एक चौथा अंश अमृत है, यही सोमरस कहलाता है। यही हमें तृप्ति देता है—रस इव खलु वा अन्नम् (तैत्तिरीय संहिता २।१७।५) इसका सम्बन्ध परमेष्ठी लोक से है। यातयाम (बासी) भोजन में सोम की मात्रा नहीं रहती, इसलिये वह रसीला नहीं होता।

### गोदुग्ध : आदर्श अन्न

वैदिक संस्कृति में गौ का बहुत महत्त्व है। इसका कारण यह है कि गौ में पृथ्वी, अन्तरिक्ष, घौ और परमेष्ठी, इन चारों लोकों के देवताओं का निवास है, इसलिये उसके दूध में दधि, घृत, मधु और अमृत चारों तत्त्व उपलब्ध होते हैं। इसलिये उसे उत्पीड़ित करना निषिद्ध है।

यहाँ पर यह चर्चा प्रासङ्गिक होगी कि वसु पृथ्वी के देवता हैं—वसवः पृथिवीक्षितः (तैत्तिरीयारण्यक १।१२।१४।१९) रुद्र अन्तरिक्ष के देवता हैं—रुद्रेभ्यो ये अन्तरिक्षे चैषां वात इषवः वे अन्तरिक्ष के अधिपति हैं—रुद्राः पितामहा अन्तरिक्षाधिपतयः (काठकसंकलन १४।१४) आदित्य द्युलोक के देवता हैं—दिवं लोकानां जयत्यादित्यं देवं देवानाम् (जैमिनीयब्राह्मण ११२७) तीनों लोकों के इन तीनों देवताओं का और परमेष्ठी के अमृत का निवास गौ में है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।

प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥ (ऋग्वेद ८।१०९।१५)

स्पष्ट है कि गौ में, क्योंकि चारों लोकों के देवों का निवास है, इसलिये उसके दूध में अमृत से स्वादुता, घृत से स्निग्धता और ओजस्विता तथा मधु से धातु-वर्धकता तो आती ही है, अमृत तत्त्व से रसायनता भी आती है। अन्य भैंस, बकरी इत्यादि के दूधों में शेष तत्त्व तो हैं किन्तु अमृत तत्त्व गो दुग्ध में विशेष है—

स्वादु पाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्धनम् ।

प्रायः पयः तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम् ॥

स्पष्ट है कि गौ के प्रति विशेष श्रद्धा का आधार वेद में प्रतिपादित अन्न विज्ञान है, न कि अन्ध श्रद्धा।

### मनुष्य : यज्ञ के नियमों का अतिक्रान्ता

अग्नि में सोम की आहुति का नियम सार्वभौम है। सभी अन्न अन्नादभाव से बँधे हुए हैं। अन्न-अन्नादभाव एक यज्ञ है। उसके नियम हैं। उन नियमों का उल्लंघन होने पर यज्ञ दूषित होता है, प्रकृति का ऋजु मार्ग अवरुद्ध होता है। इस प्राकृतिक यज्ञ की व्यवस्था दूषित करने में मनुष्य अग्रणी है। इस बात को एक कथा द्वारा ब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। प्रजापति से असुर, देवता, पितर, मनुष्य और पशु अपनी आजीविका के सम्बन्ध में जिज्ञासा लेकर गये। प्रजापति ने देवताओं से कहा कि स्वाहापूर्वक दिया हुआ यज्ञ का अन्न तथा सूर्य का प्रकाश तुम्हारा अन्न होगा, जिसे वर्ष में एक बार उत्तरायण में तुम लोगे। पितरों से कहा कि स्वधापूर्वक दिया गया



भोजन तुम्हारा अन्न होगा। जिसे तुम महीने में एक बार लोगे। चन्द्रमा तुम्हारा प्रकाश होगा मनुष्यों से कहा कि तुम्हारा अन्न नमः होगा जिसे तुम सांय प्रातः दो समय करोगे; अग्नि तुम्हारा प्रकाश होगा। पशुओं से कहा कि तुम्हारा प्रकाश मनुष्य होंगे; तुम्हें जब जो मिल जाये वही तुम्हारा भोजन है। असुरों से कहा कि छल, माया आदि तुम्हारे अन्न हैं। अज्ञान ही तुम्हारे लिये प्रकाश है।

प्रजापति ने जो आज्ञा जिसको दी, वे सभी उसका पालन करते हैं। केवल एक मनुष्य ही उसका अतिक्रमण करता है। इसी कारण मनुष्य को अनुशासित करने के लिये शास्त्र की आवश्यकता है, किसी और के लिये नहीं।

प्रकृति में चलने वाले यज्ञ में देव, पितर, पशु, असुर सभी अपना-अपना योगदान यथावत् देते हैं किन्तु एक मनुष्य ही ऐसा है जो यज्ञ के नियमों का अतिक्रमण करता है। इस पर भी महाभारत का कथन है कि इन सब में श्रेष्ठ मनुष्य ही है—*गुह्यं तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्*। मनुष्य में समस्त देवताओं का निवास है—*नरो वै देवानां ग्रामः (ताण्ड्यब्राह्मण ६.९.२)* मनुष्य समस्त सृष्टि में प्रजापति के सबसे निकट है—*पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् (शतपथ ब्राह्मण ४।३।१४।३)* मनुष्य मनु रूप है—*अहं मनुरभवम्*। प्रजापति ने मनुष्य को मन से बनाया है, इसलिए मनुष्य में सदा मनु रहता है। उसी मनु के कारण मनुष्य को मनुष्य कहते हैं—*स (प्रजापतिः) देवान् सृष्ट्वा मनस्यतेव, तेन मनुष्यानसृजत। तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्। स यस्तन् मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद। मनस्वान् ह भवति (मैत्रायणी संहिता ४।२।११)* जिस मनु तत्त्व के कारण मनुष्य को मनुष्य कहा जाता है, वह मनु केन्द्र प्रजापति है। इस मनु को ही अग्नि, प्रजापति आदि अनेक नामों से जाना जाता है। प्रजापति के दो रूप हैं—एक नभ्य प्रजापति, दूसरा सर्वप्रजापति। नभ्य प्रजापति केन्द्र है। यह अज है। यही समस्त विश्व को जन्म देता है। यह प्राण रूप है। इसे अन्तः कहा गया है। जितने भी मूर्त पदार्थ हैं, उनके अन्तरतम में यही है। इसे ही हृदय कहा जाता है। यह नभ्य प्रजापति अथवा केन्द्र ही पूरे पदार्थ को व्याप्त कर लेता है। कोई भी भूत पिण्ड कितना ही छोटा हो या कितना ही बड़ा हो अपने केन्द्र प्रजापति में ही प्रतिष्ठित होता है। केन्द्र प्रजापति का स्वरूप है—

*प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।*

*तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तास्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा। (यजुर्वेद ३१।१९)*

यह केन्द्र प्रजापति ही पिण्ड में सब ओर व्याप्त हो जाता है। पिण्ड केन्द्र की ही समष्टि है। केन्द्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वेद (ऋग्वेद १०.१२१.१०) में सर्व प्रजापति का यही रूप है—*प्रजापते न नत्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव*। मनुष्य केन्द्र प्रजापति से जुड़ा है यह ही उसका मनुष्यत्व है, यह ही उसकी महिमा का रहस्य है। सहस्र पूर्णता का नाम है—*परमं सहस्रं (ताण्ड्यब्राह्मण १६।९।१२)* पुरुष इसी की मूर्ति है—*पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा (शतपथ ब्राह्मण ७।१५।२।१७)* मनुष्य का केन्द्रस्थ प्रजापति के साथ यह सम्बन्ध अनुपम है जो अन्य किसी में प्राप्त नहीं है। यह केन्द्र प्राण है तो विश्व प्रजापति पिण्ड है, भूत है। केन्द्र भी ब्रह्म है, भूत भी ब्रह्म है। केन्द्र एक है, पिण्ड अनेक है। केन्द्र ज्ञान का विषय है, पिण्ड विज्ञान का विषय है। केन्द्र का



रूप है सत्य, ज्ञान, अनन्त—*सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म*। पिण्ड का रूप है—*नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म*। केन्द्र भूत से आवृत्त है। भूत का अर्थ है नाम और रूप, जो सत्य है, केन्द्र का अर्थ है प्राण, जो अमृत है। तीनों का समन्वय ही आत्मा है—*तदेतत्-त्रयं सदेकमयमात्मा*। *आत्मा उ एकः सन्नेतत्रयम् । तदमृतं सत्येन छन्दम् । प्राणो वा अमृतम् । नामरूपे सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणश्छन्दः । (शतपथब्राह्मण १४।४।१३)* केन्द्र की ऐसी महिमा है कि जो उसे जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है—*एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति*। क्योंकि जो केन्द्र में है वही सर्वत्र है—*यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह*। (कठोपनिषद् २.१.१०) पिण्ड सत्य है। उसका केन्द्र भी सत्य है। इसलिए श्रीमद्भागवत में इसे सत्य का भी सत्य कहा है—*सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः*। इस केन्द्र में स्थित होने के कारण ही मनुष्य श्रेष्ठ है। यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि वह श्रेष्ठ है तो फिर वह अतिक्रमण क्यों करता है ? उत्तर यह है कि वह केन्द्र में स्थित होकर प्रजापति की प्रतिमा बना हुआ है, किन्तु उसमें कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं, जो प्रजापति में नहीं हैं। उसमें अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेश हैं, कर्म बन्धन हैं और संस्कार हैं। योगसूत्र कहता है कि ये सब ईश्वर में नहीं हैं—*क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः*। इसी विशेषता के कारण मनुष्य अतिक्रमण कर देता है, किन्तु इसके बावजूद वह मनु के या केन्द्र के निकटतम बना रहता है। क्योंकि यद्यपि क्लेश, कर्मफल, तथा संस्कार देव, असुर, देवता, पितर तथा पशु में भी हैं, किन्तु इन्हें केवल मनुष्य ही जीत सकता है, अन्य सब इनसे बँधे हुए बँधे बँधाये मार्ग पर ही चलते हैं। यही मनुष्य की इच्छाशक्ति का स्वातन्त्र्य है, जो उसे अन्य प्राणियों से पृथक् करता है।

### अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य श्रेष्ठ

शरीर से परे मन है, मन से परे बुद्धि, बुद्धि से परे अव्यक्त और अव्यक्त से परे पुरुष है। यह पुरुष ही वह केन्द्र है, जिसे आत्मा कहा जाता है। शरीर तो सभी प्राणियों का है, भले उनमें इन्द्रियां हो या न हो। जिनमें इन्द्रियाँ नहीं हैं उन्हें हम भूत कहते हैं, जिसका अर्थ है जड़। जिन्हें हम प्राणी कहते हैं, उनमें इन्द्रियों का विकास हो जाता है। बिना इन्द्रियों वाले भी दो भागों में विभक्त है—असंज्ञ और अन्तः संज्ञ। असंज्ञ पाषाण आदि हैं, अन्तः संज्ञ वृक्ष आदि। बहिःसंज्ञ वे हैं जिनमें इन्द्रियों का विकास हो गया है। वे चार हैं—कृमि, कीट, पक्षी और पशु। इनमें भी कृमि, कीट की अपेक्षा पशु-पक्षियों में कुछ विशेषता रहती है, उसे ही बुद्धि कहते हैं। मन का विकास चन्द्र से होता है, यह तैजस है। बुद्धि का विकास सूर्य से होता है, यह प्राज्ञ है। मनु के अनुसार भूतों में प्राणी श्रेष्ठ है, प्राणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ है, किन्तु मनुष्य इन सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें बुद्धि के बाद उस आत्मा के विकास की भी सम्भावना है जिसे हमने केन्द्र कहा है—

**भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।**

**बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः..... ॥**



## मनुष्य का पुरुषभाव

आत्मा सर्वव्यापक है और विभूति सम्बन्ध से सब में हैं किन्तु उसकी अभिव्यक्ति मनुष्य में ही मिलती है। जीव सबमें है। जीव का सम्बन्ध अक्षर प्रकृति से है। आत्मा का सम्बन्ध अव्यय से है। अक्षर का सम्बन्ध क्रिया से है, अव्यय का सम्बन्ध ज्ञान से है। अव्यय में कभी कोई विकार नहीं आता। अव्यय पुरुष व्याकरण के 'अव्यय' की भाँति सभी स्थितियों में एक सा है—

**सद्गुणं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।**

**वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् । (गोपथब्राह्मण १।१।१६)**

अक्षर में निरन्तर क्रिया होती रहती है। इस क्रिया को क्षरण कहते हैं। क्षरण होने पर भी इस अक्षर का क्षय नहीं होता, इसलिये इसे अक्षर कहा जाता है—*स यद् एभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यः क्षरति न चैनमतिक्षरन्ति तस्मादक्षरम् । (ऐतरेयब्राह्मण १२।१२।१२)* यह निरन्तर गतिशील है, इसलिये इसे इन्द्र भी कहा गया है—*कतमत्तदक्षरमिति । यत् अक्षरन्नाक्षीयतेति । इन्द्र इति (जैमिनीय ब्राह्मण १।१४।१२।१८)* सब जीवों में अक्षर तत्त्व मुख्य है, इसलिये वे जीव हैं, पुरुष नहीं। मनुष्य में अव्यय तत्त्व केन्द्र में है इसलिये केवल मनुष्य को ही पुरुष कहा जाता है। पुरुष असङ्ग है—*असङ्गो ह्यं पुरुषः (शतपथब्राह्मण १४।७।१।१७)* व्युत्पत्ति की दृष्टि से पुरुष केन्द्र सहित है, क्योंकि वह पुर में अर्थात् एक सीमा में शयन करता है—“पुरि शेते” सीमा ही पुर है। र् और ल् में अभेद है। शतपथ ब्राह्मण कहता है—*लेखा हि पुरः (शतपथ ब्राह्मण ६।३।३।१२५)* लेखा अर्थात् रेखा अर्थात् सीमा। जो परात्पर तत्त्व है वह माया के द्वारा परिसीमित होते ही पुरुष बन गया। इस पुरुष से ही सृष्टि हुई। इस स्रष्टा पुरुष से सीधा सम्बन्ध होने के कारण मनुष्य भी पुरुष कहलाता है। हमने कहा कि पुरुष असङ्ग है। यह असङ्गता ही मनुष्य को शेष जीवों से श्रेष्ठ बनाती है।

बुद्धिमान् ठीक और गलत में विवेक करके ठीक को अपना सकता है, गलत को छोड़ सकता है, किन्तु यहाँ तक प्रकृति के गुणों का साम्राज्य है; गुणातीत होकर ठीक और गलत से ऊपर उठना मनुष्य के ही सामर्थ्य में है। इसलिये उसका पुरुषार्थ तमः प्रधान अर्थ, रजः प्रधान काम और सत्त्व प्रधान धर्म तक ही सीमित नहीं अपितु वह त्रिगुणातीत मोक्ष की भी साधना करता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ हैं; किन्तु परम पुरुषार्थ मोक्ष है, क्योंकि इसकी साधना केवल पुरुष ही कर सकता है, देवता भी नहीं। यह बुद्धि से परे है। कठोपनिषद् (१.२.१४) के अनुसार यह धर्म और अधर्म से भी परे है—*अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।*

## पुरुषार्थ चतुष्टय

आत्मा केन्द्र में है। यह परम सत्य है। उपनिषद् इसे सत्य का भी सत्य कहते हैं—*सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्वे एकीभवन्ति*। किन्तु जिस बुद्धि, मन और शरीर से यह आवृत्त है, वे भी सत्य हैं। नाम और रूप भी सत्य हैं—*नामरूपे सत्यम् (शतपथब्राह्मण १४।१४।१३)* ऐसी स्थिति में मनुष्य परम सत्य आत्मा के पुरुषार्थ 'मोक्ष' को केन्द्र में रखकर भी शरीर, मन और बुद्धि की उपेक्षा नहीं करता, अतः अर्थ, काम और धर्म का भी यथायोग्य सेवन करता है—*धर्मार्थकामाः*



सममेव सेव्याः यो ह्येकसक्तः स जनः जघन्यः। इन चार पुरुषार्थों के बीच सामञ्जस्य की स्थापना ही सन्तुलित वैदिक जीवन दृष्टि है, जिसकी नींव पर वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था खड़ी है।

ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा शरीर को पुष्ट किया जाता है। गृहस्थाश्रम में युक्त आहार विहार रखते हुए मन को सन्तुष्ट किया जाता है। वानप्रस्थ में ज्ञान की साधना द्वारा बुद्धि को तृप्त किया जाता है और संन्यासाश्रम में आत्मा से जुड़कर आप्तकाम हुआ जाता है। यह एक मनुष्य की जीवनयात्रा की समय-सारिणी है, जिसे आश्रम व्यवस्था कहा जाता है। इसमें अर्थ, काम के अभ्युदय तथा मोक्ष के निःश्रेयस के बीच आपाततः दिखाई देने वाले विरोध का परिहार करता है बुद्ध्यनुबन्धी धर्म। इसलिये कणाद ने कहा—*यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वैशेषिक सूत्र १।१।१९)*

धर्म से मोक्ष होता है यह बात तो हमारी समझ में आती है—लेकिन यह बात भी परमार्थतः ठीक नहीं है, क्योंकि जैसा हमने ऊपर कहा है कि मोक्ष तो धर्म-अधर्म दोनों से परे है—तथापि यह बात तो बिल्कुल ही समझ में नहीं आती कि धर्म से अर्थ और काम की सिद्धि होती है, इसलिये इस बात को महाभारत में व्यास को दोनों हाथ उठाकर बलपूर्वक कहना पड़ा—

*ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।*

*धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते ॥*

व्यास की बात किसी ने नहीं सुनी, इसलिये उन्हें बुद्धियोग की प्रतिपादक कृष्णोक्त गीता का समावेश महाभारत में ही करना पड़ा, जिसमें धर्म प्रधान बुद्धियोग का प्रतिपादन हुआ।

योगसूत्र में पाँच क्लेश गिनाये—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश *अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः*। इनमें राग और द्वेष को एक शब्द में आसक्ति कह सकते हैं। साँख्य दर्शन में बुद्धि के भी चार ही गुण गिनवाये गये हैं—ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य और धर्म। इन चार गुणों से क्रमशः चार दोष निवृत्त होते हैं। ज्ञान से अविद्या दूर होती है, यह स्पष्ट है। अस्मिता का अर्थ है अपने को छोटा मानना। बुद्धि का ऐश्वर्यभाव इसे दूर करता है। ऐश्वर्य का अर्थ है—अपनी परिपूर्णता का आभास। आसक्ति वैराग्य से दूर होती है। अभिनिवेश अर्थात् मृत्यु का भय धर्म से दूर होता है। इस प्रकार बुद्धियोग ही धर्म की उपासना है। यही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

प्रश्न शेष रहा अर्थ और काम का। अर्थ का सम्बन्ध शरीर से है, काम का मन से। कामना की साहित्य में बहुत निन्दा है, किन्तु इस सृष्टि के प्रारम्भ में काम ही उत्पन्न हुआ था—*कामस्तद्व्ये समवर्तताधि (ऋग्वेद १०।७।१२२९)* अतः कामनाओं को सर्वथा निर्मूल नहीं किया जा सकता। काम के आधार पर ही सब आदान-प्रदान टिका है—*कामो हि दाता कामः प्रतिगृहीता (तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।५।६)* इसलिये सारा यज्ञ काम से ही प्रेरित होता है—*सर्वेभ्यो हि कामेभ्यो यज्ञः प्रयुज्यते (तैत्तिरीयसंहिता २।४।११।२)* जो यज्ञ स्वयम्भू से लेकर परमेष्ठी, सूर्य आदि ने किया था, वह भी कामप्र अर्थात् काम से सम्बद्ध कहलाया।

## वेदाधिगम की काम्यता

मनु का इस सम्बन्ध में स्पष्ट उद्घोष है कि कामनायें प्रशस्त नहीं हैं, किन्तु वेद के स्वाध्याय और वेदोक्त कर्म के सम्पादन की कामना करनी चाहिये, क्योंकि अकामता सम्भव ही नहीं है—

*काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्चः वैदिकः*

वेदाधिगम और वैदिक कर्मयोग का क्या अर्थ है जिसकी कामना करने का आदेश हमें मनु दे रहे हैं। वेद देवविद्या है। देवविद्या प्राणविद्या है। भूत तो हमें स्थूल रूप में प्रत्यक्ष में दिखाई देते ही हैं, सूक्ष्म भूत का भी अनुमान किया जा सकता है, किन्तु प्राणविद्या अथवा देवविद्या का रहस्य साक्षात्कृतधर्मा ऋषि ही बता सकता है। इसलिये जैसा कि हमने पहले कहा वेद से हमें यह ज्ञान प्राप्त होता है जो ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान से ज्ञात नहीं हो सकता—

*प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।*

*एतद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥*

अर्थ स्पष्ट है। हमारे इस पञ्चपवा विश्व में सूर्य तक की त्रिलोकी प्रत्यक्ष अथवा अनुमानगम्य है। व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठी अथवा अव्यक्त स्वयम्भू का ज्ञान वेदाधिगम से ही होगा। अव्यक्त के ज्ञान के बिना व्यक्त का ज्ञान भी अधूरा ही है, क्योंकि व्यक्त अव्यक्त में ही टिका है। व्यक्त का ज्ञान तो सहज ही इन्द्रियों से हो जाता है, किन्तु अव्यक्त के ज्ञान के लिये वेदाध्ययन करना पड़ता है। इसलिये वेदाध्ययन की कामना करनी चाहिये। जो वेदाध्ययन नहीं करता वह प्रत्यक्ष को ही जानता है, परोक्ष को नहीं। उसकी स्थिति पशु की सी है; वह केवल इन्द्रियों से देखता भर है, इन्द्रियागोचर के पीछे छिपे हुए रहस्य को नहीं जानता।

वेद यदि देवविद्या है, तो वैदिक कर्मयोग यज्ञविद्या है। यज्ञविद्या देवविद्या पर आधृत है, क्योंकि यज्ञ में शतपथब्राह्मणानुसार वही किया जाता है जो देवता करते हैं—*यदेवा अकुर्वन्स्तत्करवाणि*। हमने ऊपर देखा कि मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी प्रजापति की बनाई मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। देव नियमित रूप से कल्याण के मार्ग का अनुसरण करते हैं। वेद (ऋग्वेद ५.५.१५) कहता है कि हम भी उन्हीं का अनुकरण करें—*स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्या चन्द्रमसाविव*।

## यज्ञ की प्रतीकात्मकता

यह तो वैदिक कर्मयोग की बात हुई। वैदिक कर्मयोग में जहाँ आधिदैविक यज्ञों का विस्तार से वर्णन है वहाँ आध्यात्मिक यज्ञ का भी कम विस्तार नहीं है। तैत्तिरीय आरण्यक का एक सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण है। लम्बा होने पर भी यह सन्दर्भ इसलिये दिया जा रहा है कि इससे वैदिक यज्ञ की अवधारणा की व्यापकता स्पष्ट होती है—

*यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिलोमानि बहिवेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मनुः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्धोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीद् यावद् धियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत् पिबति*



तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्यो यन्मुखं तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायंप्रातरत्ति तत्समिधं यत्प्रातर्मध्यन्दिनं सायं च तानि सवनानि ये अहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासौ येऽर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथः एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रम् ।  
(तैत्तिरीय आरण्यक १०।६४।१)

अर्थात् आत्मा यज्ञ का यजमान है। श्रद्धा पत्नी है। शरीर समिधा है। वक्षस्थल वेदी है। लोम कुशा है। ज्ञान शिखा है। हृदय यूप है। काम घृत है। मनु्य पशु है। तप अग्नि है। दम शान्तिप्रद है। वाक् दक्षिणा है। प्राण होता है। चक्षु उद्गाता है। मन अध्वर्यु है। श्रोत्र ब्रह्मा है। जब तक व्यक्ति जीवित है तब तक उसकी दीक्षा है। जो खाता है वही हवि है। जो पीता है वह इसका सोमपान है। जो रमण करता है वह उपसद है। जो चलता है, बैठता है, खड़ा होता है, वह प्रवर्य है। जो मुख है है वह आहवनीय है। जो सायं प्रातः खाता है वही समिधा है। जो प्रातः, मध्याह्न और सायं है, वे सवन हैं। रात और दिन दर्शपूर्णमास हैं। अर्धमास और मास चातुर्मास्य हैं। संवत्सर और परिवत्सर अहर्गण हैं। यह सर्ववेदसत्र है। मरण ही इसका यज्ञान्त स्नान है। यह अग्निहोत्र सत्र आजीवन चलता है।

जो वैदिक कर्मकाण्ड को नीरस, यान्त्रिक, निरर्थक, उबा देने वाला, 'रिच्युअल' समझते हैं वे उपर्युक्त सन्दर्भ को पढ़कर यह समझ सकते हैं कि वैदिक महर्षि की यज्ञ के प्रति कितनी व्यापक दृष्टि थी।

## काम और कर्म

यज्ञ की यह व्यापक दृष्टि ही गीता के कर्मयोग का आधार बनी। गीता ने स्पष्ट घोषणा की कि यज्ञ के अतिरिक्त और किसी भी प्रयोजन के लिये कर्म किया जाये तो वह बन्धन का कारण है, किन्तु यज्ञ के लिये किया जाने वाला कर्म बन्धन का कारण नहीं है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

वस्तुस्थिति यह है कि पुरुष प्रजापति की प्रतिमा है। स्वयं प्रजापति का आधा भाग मर्त्य है आधा अमृत। ऐसी स्थिति में मनुष्य का भी कल्याण इसी में है कि वह ज्ञान और कर्म दोनों की उपासना करे—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।

इसीलिये यजुर्वेद का आदेश यह भी है कि मनुष्य शतवर्ष की पूर्ण आयु कर्म करते हुए ही व्यतीत करे—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।

यह भी स्पष्ट है कि कामना के बिना कर्म सम्भव नहीं और कर्म के बिना जीवनयात्रा सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में विवेक से काम लेना होगा। एक कामनायें वे हैं, जो हमारी सहज इच्छाओं की पूर्ति का साधन हैं। दूसरी कामनायें वे हैं जिन्हें हमारी लोलुपता ने जन्म दिया है। जो कामनायें सहज हैं उनकी पूर्ति के लिये कर्म करना आत्मोपलब्धि में साधक है। अतः ऐसी कामनायें उपादेय हैं। जो कामनायें हमारे मन की लोलुपता से उत्पन्न हुई हैं, वे आत्मोपलब्धि में बाधक हैं। सहज और कृत्रिम कामनाओं के बीच विभेद कर पाना ही कर्म है। सहज ईश्वरेच्छा है। कृत्रिम इच्छा जीवेच्छा है। सहज इच्छा में बुद्धि का नियन्त्रण है। कृत्रिम इच्छा में स्वच्छन्दाचार है। सहज इच्छा से संचालित आहार और विहार ही गीता में “युक्ताहारविहार” कहा गया है।

कामनाओं का यह प्रवाह गृहस्थाश्रम में सबसे अधिक बलवान् होता है। वहीं यदि हम कामनाओं को नियंत्रित कर पाते हैं तो हमारा समस्त जीवन प्रशस्त हो जाता है अन्यथा “पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्” की अनादि कथा चलती रहती है इसलिये गृहस्थाश्रम को मनु ने ज्येष्ठाश्रम कहा है—

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ (मनु, ३.७८)

गृहस्थ की धुरी पति और पत्नी दोनों के पहियों पर टिकी है। पति और पत्नी के बीच आदान-प्रदान का भाव यज्ञ है। पत्नी तभी पत्नी कहलाती है जब वह इस यज्ञ में भागीदार बने। पाणिनि का सूत्र है—पत्युर्नो यज्ञसंयोगे।

प्रकृति ने पुरुष को अधूरा बनाया, इसलिये उसे रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये पत्नी की आवश्यकता है—सोऽयमाकाशः पत्या पूर्यते। कैसे पत्नी और पति एक-दूसरे के पूरक बनते हैं इसका उत्तर मन की प्रकृति है। मन का निर्माण सौम्य चन्द्रमा से हुआ। इसलिये सहज ही उसमें रस भाव है। यह रसभाव ही बराबर वालों के प्रति स्नेह कहलाता है। जड़ के प्रति यही भाव काम कहलाता है। छोटों के प्रति यही भाव वात्सल्य तथा बड़ों के प्रति यही भाव श्रद्धा कहलाता है। जब ये चारों भाव एक साथ किसी के प्रति हों तो वह रति है। यह रति पूर्णता की सूचक है। पूर्णता आत्मा में है, इसलिये एक रति आत्मरति है, जिसका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में हैं—आत्मारतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स विराट् भवति। दूसरी ओर स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर परिपूर्ण हो जाते हैं, क्योंकि आधा भाग स्त्री है आधा भाग पुरुष। दोनों का मिलन ही परिपूर्णता है—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।

अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ (मनुस्मृति १।३२)

यही परिपूर्णता दाम्पत्य रति है। स्त्री और पुरुष का यह यज्ञ उस विराट् यज्ञ का भाग है, जिससे सृष्टि की उत्पत्ति होती है।



## अव्यय पुरुष की पाँच कलायें

अव्यय की पाँच कलाओं का उल्लेख उपनिषदों में है। मन जब रसचिति करता है तो पहली रसचिति आनन्द कहलाती है। बल वहाँ है किन्तु श्लथ भाव में। दूसरी कला विज्ञान कला है, जहाँ बल उद्भूत तो हो जाता है किन्तु उसका रस के साथ कोई अन्तर्यामी संबंध नहीं होता है। यह विज्ञान नाम की दूसरी कला है। यहाँ नानात्व रहता है इसलिए उसे विज्ञान कहा जाता है।

विज्ञान कला के अनन्तर बल उत्तेजित होने लगता है इसके कारण अन्तश्चिति की जगह बहिश्चिति होने लगती है। यह बहिश्चिति दो कलाओं को जन्म देती है—बल की न्यूनता होने पर प्राणचिति बनती है और बल की अधिकता होने पर वाक् चिति। इस प्रकार यह अव्यय पुरुष भी पाँच कलाओं वाला बन जाता है। अव्यय पुरुष में कलाओं का आधार रस और बल है इसलिए यह ज्ञानप्रधान है। अक्षर पुरुष की कलाओं का आधार गति आगति है इसलिए अक्षर पुरुष क्रियाप्रधान है। इसकी पाँच कलायें ब्रह्मा इन्द्र, विष्णु, अग्नि तथा सोम हैं। अन्त में अर्थप्रधान क्षर आता है। जिसकी पाँच कलाएं हैं—प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नम्। इन तीन पुरुषों की १५ कलाओं के साथ वह परात्पर मिलकर षोडशकल पुरुष बनता है, जिसका वर्णन उपनिषदों में इन शब्दों में है कि वह प्रजापति तीन ज्योतियों के साथ षोडशकल बनता है—

प्रजापतिः प्रजया संरराण  
स्त्रीणि ज्योतीषि सचते स षोडशी ॥

इस पुरुष का वर्णन गीता (१५.१६-१७) में बहुत स्पष्ट शब्दों में हुआ है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।  
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥  
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।  
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

इस क्षर भाग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। वेद (ऋग्वेद १०.९०.४) ने इसे ही ब्रह्म का एक पाद कहा है। तीन पाद परात्पर, अव्यय और अक्षर सृष्टि के उपादान कारण नहीं बनते—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः, पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।  
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥

## अश्वत्थ वृक्ष

अव्यय को अमृत, अक्षर को ब्रह्म और क्षर को शुक्र कहा जाता है। ये तीनों एक ही हैं क्योंकि तीनों में एक ही तत्त्व तीन रूप धारण कर लेता है। वैदिक भाषा जिन प्रतीकों का प्रयोग करती है वे बहुत सार्थक हैं। परात्पर सहित अव्यय, अक्षर और क्षर को अश्वत्थ कहा गया है जिसका एक अर्थ जो अश्व के समान रहता है—अश्व इव तिष्ठति। घोड़ा तीन पाँव से पृथ्वी पर टिकता है और एक पाँव अस्थिर रहता है। यह अस्थिर पाँव ही क्षर पुरुष है। तीन पाँव परात्पर



अव्यय हैं और अक्षर स्थिर है। दूसरी ओर अश्वत्थ का सम्बन्ध काल से है। जो शनैः शनैः प्रतिक्षण बदलते हुए भी टिका रहता है, वह अश्वत्थ वृक्ष है। और सब वृक्षों की शाखाएं ऊपर की ओर ही जाती हैं, किन्तु अश्वत्थ वृक्ष की शाखाएं नीचे की ओर भी जाती हैं। सृष्टि का मूल अव्यय ब्रह्म के मन में उत्पन्न होने वाला काम है। वह मानो सर्वोपरि है। वही सृष्टि का मूल है। अक्षर, क्षर उसकी शाखाएं हैं, जो नीचे की ओर फैली हुई हैं। इसी अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन कठोपनिषद् (२.६.१) में इस रूप में है—*ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।*

*तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।*

*तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे, तदु नात्येति काचन ॥ (कठोपनिषद् २.५.८)*

इसी अश्वत्थ वृक्ष का उल्लेख गीता (१५.१) में भी किया है—

*ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम्।*

*छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद, स वेदवित्।*

गीता के इस श्लोक में छन्दों को उस वृक्ष का पर्ण बताया गया है, उसका मूल भी वैदिक साहित्य में है—*अश्वत्थो जायते तस्य वेदो मूलं पर्णानि छन्दांसि। (काठकसंकलन १८ १-३)* इस संसार अश्वत्थ का वर्णन कठोपनिषद् के उपर्युक्त मन्त्र पर भाष्य करते समय शंकराचार्य ने बहुत विस्तार से दिया है।

इस अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन स्वयं ऋग्वेद में भी आया है—

*अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।*

*गोभाज इत् किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ (ऋग्वेद १० १७ १५)*

इस अश्वत्थ के मूल में ब्रह्मा है, मध्य में विष्णु और अग्रभाग में शिव है, क्योंकि यह वृक्ष ऊर्ध्वमूल अधःशाख है इसलिए स्वयम्भू, जो सर्वोपरि है, उसके मूल में है, विष्णु जो स्वयम्भू के बाद आने वाले परमेष्ठी का अधिष्ठाता है इसके मध्य में है और समस्त कल्याण का स्रोत शिवरूप सूर्य इसके अन्त में है—

*मूलतो ब्रह्मरूपाय, मध्यतो विष्णुरूपिणे।*

*अग्रतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः ॥*

## चतुष्पाद ब्रह्म

ऊपर हमने पुरुष के चार पादों की चर्चा की—परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर। सृष्टि के मूल में इस चतुर्थविधता के कारण पूरा विश्व ही चतुर्विध है—*चतुष्टयं वा इदं सर्वम्।* इसलिए ब्रह्म के चार पाद एक अन्य प्रकार से भी बताये जा सकते हैं—पुर, पुरुष, परात्पर और निर्विशेष। पुर का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं कि पुर का संबंध सीमा से है। सृष्टि ही पुर है। जिस प्रकार जीव का शरीर है उसी प्रकार यह विश्व ईश्वर का शरीर है। विश्व तीन भागों में बँटा है आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक। शरीर भी तीन भागों में बँटा है—कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर। जो इस पुर में रहता है वही पुरुष है। उसके तीन भेद क्षर, अक्षर और अव्यय हैं वे



क्रमशः अवर, परावर तथा पर भी कहलाते हैं। क्षर उपादान है, अक्षर निमित्त है। अव्यय अविक्त है। जैसे सूर्य का प्रकाश रूप के दर्शन में अपने अस्तित्व मात्र से कारण बनता है—उसी प्रकार अव्यय पुरुष की भी कारणता विभूति सम्बन्ध से समझनी चाहिये।

अव्यय, अक्षर और क्षर मिलकर गूढात्मक प्रजापति कहलाते हैं। अव्यय पुरुष से परे जो परात्पर है वह अनन्त बल का समुद्र अपरिच्छिन्न है। इसे ही श्रुति में अनिरुक्त प्रजापति कहा गया है। अनिरुक्त प्रजापति अपरिमित है, निरुक्त परिमित है—उभयं वैतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तथा यजुष्कृतायै करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोत्यथ या अयजुष्कृतायै यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोति। (शतपथब्राह्मण ६।५।३।७) जहाँ कहीं भी शास्त्र में ऐसा उल्लेख है कि ब्रह्म का वर्णन नहीं किया जा सकता, उसे जाना नहीं जा सकता, वह परात्पर ब्रह्म का ही उल्लेख है। अव्यय पुरुष को केन्द्र में रखने वाला वेदान्त परात्पर की चर्चा करते समय ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है। अक्षर पुरुष को केन्द्र में रखने वाला साङ्ख्यदर्शन ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करता। क्षर पुरुष को केन्द्र में रखने वाला न्यायवैशेषिक तो स्पष्ट घोषणा करता है कि सभी पदार्थों का अस्तित्व है, प्रमेयत्व और अभिधेयत्व है—*घण्टामपि भावानामस्त्विदं प्रमेयत्वमभिधेयत्वम्*। स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन को रहस्यवादी बताते समय हम विवेक से काम नहीं लेते। जो परात्पर बल के अनुद्भूत होने से पुरुष भाव में ही नहीं आया वह वाणी से परे है, यह एक तथ्य है कोई वाद नहीं। जो पुरुष भाव में आ गया वह सब विचार का विषय है। इसलिए वेद की दृष्टि नितान्त वैज्ञानिक है, रहस्यवादी नहीं।

परात्पर ही सत्ता सिद्ध है किन्तु परात्पर से ऊपर एक भातिसिद्ध सत्य है उसे निर्विशेष कहते हैं। हम अपनी कल्पना में बल से रहित विशुद्ध रस को भातिसिद्ध के रूप में ही जान सकते हैं, क्योंकि वस्तुतः विशुद्ध रस कहीं उपलब्ध नहीं होता। इसे ही निर्विशेष कहा जाता है।

इस प्रकार ब्रह्म के चार पाद जानने के बाद तीन पुरुषों में प्रथम क्षर पुरुष को जानना चाहिए, जो कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीर के अतिरिक्त संतति और सम्पदा के रूप में रहता है। कारण शरीर अविद्या से बना है। इन्द्रियों की शक्ति सूक्ष्म शरीर है। ये शक्तियाँ पाँच हैं—अग्नि, वायु, सूर्य तथा दो भेद सोम के—भास्वर सोम और दिक् सोम। पञ्च भूतों से स्थूल शरीर बना है। परिवार के जिन व्यक्तियों को हम अपना समझते हैं, वे प्रजा कहलाते हैं। जिन जड़ पदार्थों को अपना समझते हैं वे वित्त कहलाते हैं। जिन चेतन पशुओं को भी अपना समझते हैं वे हमारे वित्त हैं। इस प्रकार क्षर पुरुष स्थूल है।

## चतुर्वेद

ऋक् का अग्नि और साम का सोम मिलकर पदार्थ का स्वरूप बनाते हैं। जहाँ तक ये हैं वहीं तक अग्नि और सोम हैं, वही तक अन्न-अन्नाद हैं, वहीं तक पदार्थ हैं। ऋक् का स्पर्श किया जाता है। इसलिए वह मूर्त है। साम का स्पर्श नहीं हो सकता, अपितु उसे केवल देखा ही जा सकता है।



इस ऋक् और साम के मध्य यजु है। यजु का देवता वायु है, किन्तु वायु आकाश में टिकी है। वायु को यत् और आकाश को जृ कहते हैं। इन दो का समन्वय ही यजु है। ऋक्, यजु और साम अग्निवेद हैं। अथर्ववेद, सोमवेद है। यह साम मण्डल को चारों ओर से घेरे हैं। इसी की शक्ति से अग्निवेद जीवित हैं। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में चारों वेद ब्रह्मा के चार मुख की तरह प्रतिष्ठित हैं और इन्हीं के कारण सब प्रतिष्ठित हैं—

*ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा*

तथा

*त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि हन्त त्रयीमेव विद्यामात्मानमभिसंस्करवा इति ।*

(शतपथ ब्राह्मण १०।१४।१२।२२)

यह पहले कहा जा चुका है कि अग्नि, वायु, आदित्य के क्षेत्र प्रत्येक पिण्ड में है तथा उसके चारों ओर के मण्डल अथर्ववेद में भी है।

ये चारों वेद मिलकर यज्ञ का स्वरूप बनाते हैं। उक्थ हृदय है। उससे जो ऊर्क उत्थित होता है वह अन्नाद है और वह ऊर्क जिम अन्न को ग्रहण करता है वह अशीति है। यह अशीति ऊर्क अर्थात् रस बनकर प्राण में प्रविष्ट हो जाता है और प्राण उक्थ में विलीन हो जाता है। उक्थ फिर ऊर्क के द्वारा अशीति का ग्रहण करता है। यही अन्न ऊर्क और प्राण का अन्योन्यपरिग्रह है जिसे यज्ञ कहते हैं—*अन्नोर्कप्राणानामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञः*। वेद में ब्रह्मा जिसकी प्रतिष्ठा करते हैं यज्ञ में विष्णु उसकी ही स्थिति बनाते हैं।

ब्रह्मा के द्वारा प्रतिष्ठित और विष्णु के द्वारा आधृत यजुर्वेद के विकार से पञ्चक्लेशरूप बीज, पञ्चदेवतारूप देव तथा पंचभूतरूप भूत इन्द्र उत्पन्न करता है। पंचक्लेश वाला बीज कारण शरीर है, पंचदेवों वाला सूक्ष्मशरीर है तथा पञ्चभूतों वाला स्थूल शरीर है। ये पन्द्रह इन्द्र से मिलकर षोडशी पुरुष बनाते हैं। ये इन्द्र की प्रजा हैं, जिसके द्वारा बनाये गए शरीर में व्याप्त इन्द्र इन्द्रियों से समस्त भोगों का उपभोग करता है।

इन प्रजाओं के नामरूप कर्म से अग्नि लोक का निर्माण करता है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् ये सात भुवन हैं।

प्रजा तथा लोक में जो कुछ दिखाई देता है वह वीर्य से सम्पन्न है। यह वीर्य ही धर्म है। इसका निर्माण सोम करता है। ये धर्म चार हैं—दिव्यभाव जो शान्तस्वरूप वाला है, यही ब्रह्मवीर्य है। वीरभाव उत्साहस्वरूप वाला है, वह क्षत्रवीर्य है। पशुभाव ऐसा शान्तभाव है, जिसमें आत्मगौरव नहीं है, यही विटवीर्य है। मृत भाव इन सब वीर्यों को स्तम्भित कर देता है उन्हें प्रकट नहीं होने देता।

ब्रह्मा में प्राण तत्त्व ही त्रयी को उत्पन्न करता है। वही त्रयी पूर्वोक्त रूप से सारे विश्व में व्याप्त है। आपोमय परमेष्ठी अथर्ववेदमय है। इसी का सोमवेद पूरे विश्व में व्याप्त होता है। सूर्य वाङ्मय है। इसी से प्रत्येक पदार्थ का भौतिक रूप बनता है। अन्नभाव चन्द्रमा से और अन्नादभाव पृथ्वी से आता है।



## अध्यात्म में पञ्चपर्वा विश्व का प्रतिनिधित्व

जिस प्रकार विश्व में स्वयम्भू पर्व प्राणमय ब्रह्मा का है उसी प्रकार अध्यात्म में गर्भ की प्रतिष्ठा शान्तात्मा ब्रह्मा द्वारा होती है। अभी माता के गर्भ में कोई हलचल नहीं है इसलिये इसे शान्तात्मा कहा जाता है। छठे मास में जैसे ही गर्भ में हलचल प्रारम्भ होती है इन्द्र और विष्णु प्रतिष्ठित हो जाते हैं। विष्णु महानात्मा है। वह यज्ञ स्वभाव वाला है। गर्भ में जिन शक्तियों को वह ग्रहण करता है वही अन्न ऊर्क बनकर प्राण में बदल जाते हैं यही महानात्मा है।

अग्नि के क्षेत्र से वायु के क्षेत्र में और वायु के क्षेत्र से आदित्य के क्षेत्र में विष्णु गति करता है यही उसके त्रिविक्रम हैं। यह महान् आत्मा त्रिगुणात्मक अहंकृति, प्रकृति तथा आकृति का निर्माण करता है। इसका सम्बन्ध परमेष्ठी से है। यह शुक्रे में व्याप्त रहता है। सोमरस इसका रूप है।

आपोमय इसी महान् आत्मा में अव्यय पुरुष बीज अर्थात् कारणशरीर को आहित करता है जिसके आधार पर यह स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर का निर्माण करता है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (गीता, १४.३-४)

इसके अनन्तर इन्द्र विज्ञानात्मा को जन्म देता है। यही क्षेत्रज्ञ आत्मा कहा जाता है, क्योंकि यह क्षेत्र अर्थात् शरीर को ज्ञान से व्याप्त कर लेता है। यही आयु का प्रवर्तक है। यह हृदय में स्थित है। रक्त के आकाश में यह व्याप्त है। यही ज्ञानवाहिनी तथा कर्मवाहिनी नाडियों के माध्यम से ज्ञान और कर्म उत्पन्न करता है। इसके अनन्तर मन का निर्माण होता है। यही प्रज्ञानात्मा है। हमने ऊपर अन्न के दिव्य अंश से मन की उत्पत्ति बताई है। मन अन्न का स्वच्छतम रूप है। अतः उसमें क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा प्रतिबिम्बित हो जाता है, जैसे चन्द्रमा में सूर्य प्रतिबिम्बित होता है। यही प्रज्ञानात्मा समस्त इन्द्रियों से व्यापार करता है। इसलिये ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है—

यत्किञ्चेदं प्राणिजड् गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म । (ऐतरेयोपनिषद्, ५.३)

## आत्मा के अनेक रूप

ऊपर जिस श्चोवसीयस् मन की चर्चा की, वह चिदात्मक मन है। जो सब इन्द्रियों को प्रेरित करने वाला सर्वेन्द्रिय मन है, वह प्राणात्मक है और तीसरा सुख दुःख को ग्रहण करने वाला इन्द्रियात्मक मन है। यहाँ सर्वेन्द्रिय मन को प्रज्ञानात्मा कहा है। इसलिए उसके लिए कहा गया है कि उसी से हम देखते हैं, उसी से सुनते हैं, उसी से बोलते हैं, उसी से स्वाद चखते हैं—

“कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा । येन वा पश्यति । येन वा शृणोति । येन वा गन्धानाजिघ्रति । येन वा वाचं व्याकरोति । येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ।”



जिस प्रकार चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है। उसी प्रकार यह प्रज्ञानात्मा शरीर रूप भूतात्मा की परिक्रमा करता है। भूतात्मा शरीर है। वह अग्निमय पृथ्वी का सार है। शरीरात्मा के अतिरिक्त भूतात्मा के दो भेद और हैं—हंसात्मा और दिव्यात्मा। हंसात्मा वायुरूप है, शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह बना रहता है। परकाया में भी यह प्रवेश कर जाता है। इसे ही जनसामान्य “भूत” कहते हैं।

तीसरा भूतात्मा दिव्यात्मा है, जो अग्नि के सम्बन्ध से प्राज्ञ बनता है। इसके दो भाग हैं—ज्ञानात्मा और कर्मात्मा। धातुओं में केवल वैश्वानर ही शरीर को धारण करता है। वनस्पतियों में वैश्वानर और तैजस दोनों शरीर को धारण करते हैं तथा चलने फिरने वाले कृमि से लेकर मनुष्य पर्यन्त चेतन जीवों में वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ तीनों शरीर को धारण करते हैं। धातुओं की शैशव, यौवन आदि अवस्थाएं नहीं होती हैं, क्योंकि उनमें तैजस प्राण नहीं है, जो कि अवस्थाओं को उत्पन्न करता है। वैश्वानर शोणित, मांसादि उत्पन्न करता है। तैजस प्राण आरोह-अवरोह द्वारा अवस्थाएं उत्पन्न करता है। वैश्वानर और इन्द्रियां जुड़ी हुई हैं। शरीरात्मा और हंसात्मा बाह्यात्मा हैं। वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ अन्तरात्मा हैं।

पञ्च भूतों का पञ्च भूतों में मिलना पञ्चत्व गति है। वाक् अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, श्रोत्र दिशा और चन्द्रमा में मन ब्रह्मणस्पति और चन्द्रमा में विलीन होकर आध्यात्मिक स्वरूप से अलग हो जाता है। हंसात्मा एमूष वायु में लीन हो जाता है। भूतात्मा कर्मात्मा कर्मानुसार अच्छी या बुरी गति में जाता है। इसी का पुनर्जन्म होता है।

प्रथम अध्याय में जीवाधिकरण के अन्तर्गत हम इसी विषय को थोड़ा स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। वस्तुतः आगे के सभी अधिकरणों में उन्हीं विषयों का विस्तार किया गया है जिनकी संक्षिप्त रूपरेखा इस विषयप्रवेश में दी गयी है। यदि इस विषयप्रवेश के समझने में पाठक कठिनाई का अनुभव करें तो यह कोई अस्वाभाविक बात न होगी किन्तु ज्यों ज्यों वे ग्रन्थ के अग्रिम अधिकरणों का अवलोकन करेंगे, वे विषय जो अस्पष्ट हैं। स्पष्ट होते जायेंगे।

ग्रन्थ के विषय-प्रवेश को इतना लम्बा करने का हमारा प्रयोजन इस बात को रेखाङ्कित करना है कि वेद की दृष्टि अनेकता में अन्तर्निहित एकता तथा एकता से उद्भूत होने वाली अनेकता पर समान बल देने के कारण ज्ञान तथा विज्ञान पर समान बल देती है। यही समग्रदृष्टि वेद की व्यावर्तक विशेषता है। एकता तथा अनेकता दोनों ही सत्य हैं, किन्तु मूल एकता है, अनेकता तूल है। एक से अनेक बने हैं; अनेक को जोड़कर एक नहीं बना है। चेतन व्यक्ति में एक मूलकारण का विकास अनेकानेक अवयवों के रूप में होता है। यन्त्र में अनेकानेक अवयवों को जोड़कर एक अवयवी को बनाया जाता है। प्रथम स्थिति की परिणति ब्रह्मवाद है। द्वितीय स्थिति की परिणति भूतवाद है। वेद ब्रह्मवादी है, किन्तु जगन्मिथ्यावादी नहीं क्योंकि शतपथ ब्राह्मण (१४.४.४.३) की स्पष्ट घोषणा है कि नाम तथा रूप सत्य हैं—*नामरूपे सत्यम्*। इस बात को न समझ कर ज्ञान को सत्य तथा विज्ञान को मिथ्या मानना वैदिक मान्यता के विरुद्ध जाना है। इस बात पर बल देने के लिये ही इस ग्रन्थ के नाम में भी ‘विज्ञान’ शब्द का प्रयोग किया गया है।



## प्रथम अध्याय

### जीवाधिकरण

ऋग्वेद (१०/११५/१) के वाक् सूक्त की प्रथम पङ्क्ति है—*अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यह-  
मादित्यैरुत विश्वदैवे*: इस पङ्क्ति में तीन देवों का उल्लेख है—वसु (अग्नि), रुद्र (वायु) और  
आदित्य । शतपथ ब्राह्मण में इन तीन देवों को समस्त देवों का हृदय बताया गया है—  
*अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवानां हृदयानि* (शतपथ ब्राह्मण ९.१.१.२३) ।

#### त्रिदेव

अग्नि, वायु और आदित्य को सब देवों का हृदय अथवा सार बताने का रहस्य यह है कि  
जैसा हम विषयप्रवेश में बता चुके हैं, लोक तीन हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः । इनमें अग्नि  
पृथिवीस्थानीय है । वायु अन्तरिक्षस्थानीय है और आदित्य द्युस्थानीय है । इस कारण अग्नि में  
समस्त पृथिवीस्थानीय देवों का, वायु में समस्त अन्तरिक्षस्थानीय देवों का तथा आदित्य में समस्त  
द्युस्थानीय देवों का समावेश हो जाता है और इस प्रकार अग्नि, वायु और आदित्य में समस्त देवों  
का समावेश हो जाने के कारण इन तीन देवताओं को समस्त देवताओं का हृदय बताना उचित ही  
है । मनु ने इन तीन देवों से ही त्रयी का जन्म माना है—

*अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।*

*दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुस्सामलक्षणम् ॥*

(मनुस्मृति, १.२३)

#### मनुष्य में देवों का निवास

ताण्ड्य ब्राह्मण का कहना है कि नर देवों का समूह है—*नरो वै देवानां ग्रामः* (ताण्ड्यब्राह्मण  
६.१.२) । मैत्रायणी संहिता कहती है कि मनुष्य में समस्त देव निवास करते हैं—*विश्वे हीदं देवा  
स्मो यन्मनुष्यः* (मैत्रायणीसंहिता ३.२.२) ।

प्रस्तुत अध्याय में हम इस तथ्य का प्रतिपादन करेंगे कि किस प्रकार पृथिवीस्थानीय अग्नि,  
अन्तरिक्षस्थानीय वायु और द्युस्थानीय आदित्य के सहयोग से हमारे पूरे व्यक्तित्व का निर्माण



होता है। इस तथ्य को समझ लेने पर ही हमें इस बात का रहस्य भी समझ में आयेगा कि वेदों में निरन्तर देवों के स्तुतिपरक सूक्त क्यों भरे पड़े हैं। देवतत्व की व्याख्या हम पृथक् से देवताधिकरण में करेंगे। प्रस्तुत जीवाधिकरण में तो हम अपने आपको केवल इतने तक ही सीमित रखेंगे कि किस प्रकार अग्नि, वायु और आदित्य नामक तीन देव हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं ?

## देवों का यज्ञ

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०.९०) में देवों के यज्ञ करने का बार-बार उल्लेख हुआ है—

- |                             |             |
|-----------------------------|-------------|
| (१) देवा यज्ञमतन्वत         | (मन्त्र ६)  |
| (२) तेन देवा अयजन्त         | (मन्त्र ७)  |
| (३) देवा यद्यज्ञं तन्वाना   | (मन्त्र १५) |
| (४) यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः | (मन्त्र १६) |

अग्नि, वायु और आदित्य जब यज्ञ करते हैं तो इस यज्ञ में इन तीन देवताओं में से किसी एक देव में शेष दो देवों की आहुति गिरती है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इन तीन देवताओं का सम्बन्ध तीन लोकों से है, किन्तु इनमें से जब कोई एक देव अपने लोक को छोड़कर किसी दूसरे लोक में जाता है तो इसका नाम बदल जाता है। अग्नि का नाम पृथिवी पर अग्नि ही रहता है, किन्तु जब वह अन्तरिक्ष में स्थित वायु में आहुति के रूप में प्रयुक्त होता है तो उसका नाम पावक हो जाता है और वही अग्नि जब घौं में स्थित आदित्य में आहुति बनता है तो शुचि कहलाता है। दूसरी ओर अपने लोक अन्तरिक्ष में वायु वायु ही है, किन्तु पृथिवी पर अग्नि में आहुति बनते समय वही मातरिश्वा कहलाता है तथा घौं में स्थित आदित्य में आहुति बनते समय वही पवित्र कहलाता है। तीसरी ओर अपने स्थान द्युलोक में आदित्य आदित्य ही है, किन्तु पृथिवी पर अग्नि में आहुति बनते समय वही वासव कहलाता है और अन्तरिक्ष में वायु बनते समय वही मरुत्वान् कहलाता है। इन तीन देवताओं का एक दूसरे में आहुति बनना इस विराट् यज्ञ का भाग है, जो इस सृष्टि में निरन्तर चलता रहता है। यज्ञ की एक परिभाषा है—अग्नि में सोम की आहुति डलना। यज्ञ की प्रक्रिया में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को आत्मसात् करता है। जो पदार्थ आत्मसात् करता है वह अग्नि कहलाता है और जिस पदार्थ को आत्मसात् किया जाता है वह सोम कहलाता है। इसी आधार पर बृहज्जाबालोपनिषद् ने घोषणा की थी कि समस्त जगत् दो ही पदार्थों का समुच्चय है—अग्नि और सोम—*अग्नीषोमात्मकं जगत्*। हम यह बात भूमिका में कह चुके हैं।

इससे पहले कि हम अग्नि वायु और आदित्य के निरन्तर चलने वाले विराट् यज्ञ से अपने व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया पर आये, यज्ञप्रक्रिया की एक विशेषता की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। यज्ञ में एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ की आहुति पड़ती है और वह पदार्थ दूसरे पदार्थ को आत्मसात् कर लेता है। दूसरे शब्दों में अग्नि में जब सोम की आहुति पड़ती है तो सोम भी अग्नि रूप ही हो जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि अग्नि मुख्य हो गया तथा सोम गौण हो गया। इसलिये ऋग्वेद में सोम अग्नि से कहता है कि हे अग्नि ! मैं तुम्हारा छोटा भाई



हूँ—तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः (ऋग्वेद ५.४४.१५) ।

यहाँ तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं—

- (१) अग्नि और सोम में बड़ा कौन और छोटा कौन ?
- (२) क्या सोम ने अग्नि में अपनी आहुति देकर अपनी हानि की ?
- (३) अग्नि में सोम की आहुति का क्या फल हुआ ?

### दृष्टि में समता, व्यवहार में सापेक्षता

प्रथम प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अग्नि और सोम सज्जायें किसी पदार्थ की स्थिर सज्जायें नहीं हैं। ऊपर जिन तीन देवताओं के यज्ञ की हमने चर्चा की उसको ही देखें तो पृथिवी पर अग्नि अग्नि है शेष दो देव, वायु और आदित्य, उसमें आहुति बन रहे हैं, इसलिए उनकी सोम सज्जा हो जायेगी। किन्तु यदि अन्तरिक्ष में चलने वाले यज्ञ को देखें तो वहाँ वायु मुख्य देवता है; उसकी अग्नि सज्जा होगी और उसमें आहुति रूप में पड़ने वाली अग्नि (जिसकी यहाँ पावक सज्जा है) तथा आदित्य (जिसकी यहाँ मरुत्वान् सज्जा है) को हम सोम कहेंगे। इस प्रकार अग्नि पृथिवी पर चलने वाले यज्ञ में अग्नि है और अन्तरिक्ष में चलने वाले यज्ञ में सोम है। इसके विपरीत वायु अन्तरिक्ष में चलने वाले यज्ञ में अग्नि है और पृथिवी में चलने वाले यज्ञ में सोम है। ऐसी स्थिति में अग्नि या सोम में किसी को भी बड़ा मानें, अग्नि और वायु दोनों में एक जगह अग्नि बड़ा होगा और दूसरी जगह वायु बड़ा होगा और इस प्रकार दोनों समकक्ष हो जायेंगे। स्थान भेद से एक जगह एक बड़ा होगा, दूसरी जगह दूसरा। हमारा इस चर्चा को करने का अभिप्राय यह है कि यज्ञ हमें यह शिक्षा देता है कि सब समान हैं; न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। किन्तु व्यवहार के लिये किसी स्थान पर एक को दूसरे के काम आने के लिये छोटा बन जाना चाहिये, अन्यथा सृष्टि का व्यवहार ही नहीं चल सकेगा। इसे ही हम इस रूप में भी कहते हैं कि व्यवहार में सब विषम हैं, दृष्टि में सब समान हैं। व्यवहार में समानता का दुराग्रह करना अराजकता को जन्म देना है तो दृष्टि में विषमता रखना अन्याय को जन्म देना है। फ्रांस की क्रान्ति के बाद समानता का नारा पूरे विश्व में फैल गया। भारतीय संविधान के प्रथम पृष्ठ पर जिन मूल्यों का उल्लेख है समानता भी उनमें से एक है, किन्तु समानता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध, सेव्य-सेवक सम्बन्ध, पितृ-पुत्र सम्बन्ध के बीच जो बड़े छोटे के विवेक पर आश्रित आचरण है उसका लोप कर दिया जाये; न ही इसका यह अर्थ है कि आत्मदृष्टि से जो प्राणिमात्र में ब्रह्मबुद्धि के आधार पर समदृष्टि है इसका लोप कर दिया जाये। सङ्क्षेप में दृष्टि की समानता और व्यवहार में प्रसङ्गानुकूल यथोचित व्यवहार वैदिक समाजदर्शन का मेरुदण्ड है। एक अध्यापक के नाते मेरा कर्तव्य है कि बिना किसी भेदभाव के अपने सभी छात्रों के प्रति समान दृष्टि रखते हुए सबको प्रगति का समान अवसर दूँ, सबकी सब प्रकार की कठिनाइयों को दूर करने में सब प्रकार से सहयोगी बनूँ। यह समदर्शिता का अर्थ है, किन्तु समता का कट्टर से कट्टर पक्षपाती भी मुझसे यह आशा नहीं करेगा कि मैं परीक्षा में सभी विद्यार्थियों को समानता के नाम पर समान अङ्क दे दूँ। वहाँ तो मुझे योग्यता की तारतम्यता के आधार पर ही अङ्क देने होंगे। न्याय की माँग



है कि मैं वहाँ योग्य-अयोग्य विद्यार्थियों के बीच विवेकपूर्वक विषम व्यवहार ही करूँ। इस विवेक को पक्षपात अथवा अन्याय नहीं कहा जा सकता।

### समर्पण का अर्थ

दूसरा प्रश्न यह है कि किसी भी यज्ञ में जिसको आहुति बनना पड़ता है (अर्थात् सोम), वह अपने अस्तित्व को मिटा देता है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि किसी का अस्तित्व समाप्त नहीं होता है, केवल रूपान्तरित हो जाता है। यज्ञ में जो पदार्थ आहुति बनता है वह स्थूल रूप को छोड़कर सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है। प्रत्यक्षतः हमें यह दिखाई पड़ता है कि इसका अस्तित्व समाप्त हो गया है, किन्तु वस्तुतः सूक्ष्म रूप धारण करने के कारण वह और अधिक बलशाली हो जाता है। उसका सूक्ष्म रूप धारण करके अधिक बलशाली हो जाना ही यज्ञ के फल अर्थात् नवीन (अपूर्व) पदार्थ की उत्पत्ति का कारण बनना है। इस प्रकार अग्नि में सोम अपनी आहुति देकर अपनी हानि नहीं करता, अपितु सूक्ष्म रूप धारण करके और बलशाली हो जाता है और अपने सूक्ष्म रूप से विश्व के कल्याण में निमित्त बनता है।

जीवन में किसी भी उद्देश्य के प्रति अपने को समर्पित करने वाले व्यक्तित्व यज्ञ में आहुति बनकर गिरने वाले सोम के समान हैं जो अपने स्थूल अस्तित्व को विलय करके सूक्ष्म अस्तित्व में बदल जाते हैं। यज्ञ के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति का यही अर्थ है।

### यज्ञ का फल

ऊपर उठाये गये तीसरे प्रश्न का उत्तर द्वितीय प्रश्न के उत्तर में ही समाहित हो जाता है। अग्नि में सोम की आहुति का फल है—अपूर्व अर्थात् नवीन पदार्थ की उत्पत्ति। हम संसार में कुछ भी नया सर्जन करना चाहें, वह नूतन सर्जन बलिदान के बिना नहीं हो सकता। इस बलिदान को ही यज्ञ में होने वाली हिंसा कहा जाता है और इसी बलिदान के लिये यह प्रसिद्धि है कि वेदोक्त कर्म में की गयी हिंसा हिंसा नहीं है—*वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति*। इसलिये यज्ञ में किसी पदार्थ की आहुति दी जाती है तो आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि उस पदार्थ की हिंसा हो गई, तथापि तात्त्विक दृष्टि से वह हिंसा नहीं है। इसलिये यज्ञ को अ + (= न) ध्वर (= हिंसा) = ध्वर कहा जाता है। यज्ञ कि इस आनुषङ्गिक चर्चा को हम यहीं विराम देते हैं क्योंकि कर्म पर हम एक स्वतन्त्र अधिकरण लिख रहे हैं। अब हम अपने मुख्य विषय को आगे बढ़ायें कि किस प्रकार अग्नि, वायु तथा आदित्य के द्वारा सम्पाद्य देवयज्ञ से हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है ?

### हमारे व्यक्तित्व के तीन घटक

हमारे व्यक्तित्व के तीन घटक हैं—शरीर, प्राण तथा मन। क्रमशः इन तीनों का निर्माण करते हैं—वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। इन तीनों का निर्माण भी उस यज्ञ के द्वारा होता है जिस यज्ञ में अग्नि, वायु और आदित्य में से दो की आहुति तीसरे में पड़ती है। अग्नि, वायु और आदित्य का सम्बन्ध क्रमशः भू, अन्तरिक्ष और द्यौ से है। भू अधोभाग है, अन्तरिक्ष मध्य भाग है, द्यौ ऊर्ध्वभाग है। अग्नि पदार्थ में घनतत्त्व, वायु तरलतत्त्व, और आदित्य विरलतत्त्व का समावेश करता है। यही



देवताओं का त्रिसत्य है, जिसके कारण 'त्रिसत्या वै दैवाः' कहा जाता है।

अग्नि, वायु और आदित्य भौतिक पदार्थ नहीं हैं, बल्कि प्राणतत्त्व हैं। इन तीनों से समस्त विश्व का निर्माण हुआ है। अग्नि, वायु और आदित्य के एक दूसरे में आहुति पड़ने से इनका परस्पर सम्मिश्रण होता है। इसी सम्मिश्रण को सङ्गतिकरण अथवा यज्ञ कहते हैं। इस सम्मिश्रण से ही वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ बनते हैं। अग्नि में वायु और आदित्य की आहुति पड़ती है तो वैश्वानर का निर्माण होता है। अग्नि, वायु और आदित्य नर हैं। अग्नि इन तीनों से जुड़ने के कारण वैश्वानर कहलाता है। इसी प्रकार जब वायु में अग्नि और आदित्य की आहुति पड़ती है तो तैजस का जन्म होता है। जब आदित्य में अग्नि और वायु की आहुति पड़ती है तो प्राज्ञ का जन्म होता है।

वैश्वानर, तैजस तथा प्राज्ञ—इन तीन के अतिरिक्त इस यज्ञ से समष्टि भी उत्पन्न होता है। अग्नि को मुख्य बनाकर समष्टि में विराट् बनता है, वायु को मुख्य बनाकर समष्टि में हिरण्यगर्भ बनता है तथा आदित्य को मुख्य बनाने पर समष्टि में सर्वज्ञ का निर्माण होता है।

### ब्रह्मौदन से विश्व, प्रवर्ग्य से व्यक्ति

विराट्, हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ का जो रूप क्रमशः विश्व के अर्थसम्पादन, क्रियासम्पादन और ज्ञानसम्पादन में लग जाता है, वह ब्रह्मौदन कहलाता है। जो अंश विश्व के निर्माण से बच जाता है, वह प्रवर्ग्य कहलाता है। प्रवर्ग्य का अर्थ है—उच्छिष्ट। इस उच्छिष्ट से हम सबका निर्माण होता है। अथर्ववेद (११.७.११) कहता है—*उच्छिष्टाज्जिरे सर्वे*। पुराण की भाषा में इसे प्रसाद कहते हैं। हम सब जो भी हैं, समष्टि के प्रसाद से हैं। इसी प्रसाद की यह लोकप्रसिद्ध प्रक्रिया है कि हम भोग्य पदार्थ भगवान् के सामने रखते हैं और यह मानते हैं कि उसका जो ब्रह्मौदन अंश है वह भगवान् ने ग्रहण कर लिया तथा जो प्रवर्ग्य अंश है वह हमें प्रसाद के रूप में प्राप्त हुआ—इसी को त्यक्त का भोग कहा जाता है। हम किसी से कुछ छीन कर नहीं लेते। जो कोई भोग करने के बाद पदार्थ को छोड़ देता है, हम उसे ही भोगते हैं। किसी के अंश को छीनने का निषेध तथा प्रवर्ग्य, उच्छिष्ट अथवा प्रसाद को ही भोगने का विधान यजुर्वेद ने किया है—*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्*। ब्रह्मौदन तथा प्रवर्ग्य की अवधारणा यज्ञीय जीवनशैली का मुख्य आधार है। यह जीवनशैली आज के पर्यावरण के सन्दर्भ में विशेष रूप से प्रासङ्गिक है। विकास तथा पर्यावरण के संरक्षण में परस्पर इस प्रकार विरोध है कि हर विकास के कार्य में न्यूनाधिक रूप में प्रकृति का दोहन तो करना ही पड़ता है। प्रश्न यह है कि यह दोहन किस सीमा तक हो ? समाधान यह है कि किसी भी पदार्थ के ब्रह्मौदन का उपयोग करना वर्जित है। ब्रह्मौदन वह है जो पदार्थ के स्वरूप का निर्माण करता है तथा जिसका उपभोग करने पर पदार्थ का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। उदाहरणतः पशु का मांस भोगने पर पशु का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है क्योंकि मांस पशु का ब्रह्मौदन है, किन्तु पशु का दूध ले लेने पर पशु का स्वरूप नष्ट नहीं होता क्योंकि दूध उसका प्रवर्ग्य है। इसी प्रकार वृक्ष का तना काट देने पर उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है, किन्तु उसके फल-फूलों का उपभोग हम कर सकते हैं। ब्रह्मौदन तथा प्रवर्ग्य के बीच का



यह भेद हमारी जीवनशैली का आधार बने तो पर्यावरण का संरक्षण तथा मनुष्य का विकास दोनों साथ-साथ चल सकते हैं, अन्यथा प्रकृति के सन्तुलन के बिगड़ने का भय बना रहेगा।

### अर्थ, क्रिया तथा ज्ञान

वैश्वानर को पाद, हिरण्यगर्भ को अक्ष और सर्वज्ञ को शिरःस्थानीय कहा जाता है। पुरुष-सूक्त की प्रथम पङ्क्ति में यही सहस्रपात्, सहस्राक्ष और सहस्रशीर्षा पुरुष कहा गया है। पुराणों में सर्वज्ञ का प्रतिनिधि ब्रह्मा है, हिरण्यगर्भ का प्रतिनिधि विष्णु है, वैश्वानर का प्रतिनिधि शिव है। इस प्रकार वेद जिसे अग्नि, वायु तथा आदित्य कहता है, वेदान्त उसे ही वैश्वानर, सूत्रात्मा तथा सर्वज्ञ कहता है और पुराण उसे शिव, विष्णु और ब्रह्मा कहता है। इस उदाहरण से भारतीय संस्कृति की निरन्तरता का आभास मिल सकता है। वैश्वानर अग्नि अर्थ (पदार्थ) का अधिष्ठाता है, तैजस वायु क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता है, प्राज्ञ इन्द्र ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता है। ये तीनों देवशक्ति कहलाते हैं। वैश्वानर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, तैजस और प्राज्ञ वैश्वानर पर ही टिके हैं। ये तीनों देव सत्य हैं। यही भोक्ता आत्मा है। इसे ही हम “अहम्” शब्द से कहते हैं।

### वैश्वानर अग्नि की वाक्

वैश्वानर हमारे शरीर में अन्न को पकाता है। अपने दोनों कान बन्द करने पर हमारे अन्दर जो घोष सुनाई देता है वह इसी अग्नि का है इसीलिये अग्नि को वाक् कहा जाता है। जब वैश्वानर शरीर को छोड़ना चाहता है तो वह शब्द सुनाई पड़ना बन्द हो जाता है। तब मनुष्य को समझ लेना चाहिये कि उसकी मृत्यु निकट है। इस वैश्वानर में अन्न सोम के रूप में आहुत होता है।

### अन्न से शुक्र पर्यन्त सप्त धातुओं का निर्माण

अग्नि का काम विस्तार और सोम का कार्य सङ्कोच है। अग्नि तेज है, सोम स्नेह है। इन दो तत्त्वों के सम्मिश्रण से समस्त सृष्टि बन रही है। अग्नि हमारे अन्दर भूख जगाती है तो उसमें अन्न रूपी सोम की आहुति देनी पड़ती है। यह अन्न रस के रूप में परिणत होता है। इस रस से ही रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र बनता है। ये सात धातुयें हमारे शरीर को बनाती हैं। ये घन हैं, इसलिये ये सब अग्नि का कार्य हैं।

### शुक्र से ओज

इस शुक्र के मन्थन से ओज उत्पन्न होता है। यह ओज हमारे शरीर के बाहर भी अन्तरिक्ष में रहता है। अन्तरिक्ष का देवता वायु है इसलिये ओज के निर्माण में वायु का योगदान मुख्य है। महापुरुषों के चित्रों में यह ओज आभामण्डल के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। यह ओज शुक्र का सार है। शुक्र पर्यन्त हमारा घनस्वरूप है, किन्तु ओज हमारा तरल रूप है।

### ओज से मन

ओज का मन्थन होने पर मन का निर्माण होता है। यह सोम रस है। अन्न से उत्पन्न होने वाले तत्त्वों में यह अन्तिम तत्त्व है। अन्न की सृष्टि में मन सबसे अधिक सूक्ष्म है। यह हमारा



विरल रूप है। सबसे सूक्ष्म होने के कारण यह सबका अधिष्ठाता है। हम जो कुछ भी करते हैं, इसी के कारण करते हैं—

यत् प्रज्ञानमुत चेतोधृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।

यस्मान् ऋते किञ्चन कर्म क्रियते, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ (यजुर्वेद ३४.३)

इस प्रकार अन्न अपनी घनसृष्टि द्वारा हमारे शरीर में बल देता है, अपनी तरलसृष्टि द्वारा ओज प्रदान करता है और अपनी विरलसृष्टि मन के द्वारा सङ्कल्प शक्ति देता है।

## विश्व के उपादानों से अन्न का तथा अन्न से हमारा निर्माण

जैसा कि विषयप्रवेश में बताया जा चुका है, हमारे शरीर का निर्माण जिस सोम से होता है उस सोम का निर्माण पूरे विश्व से होता है। हमारे अन्न में जो स्थूल भाग है उसे दधि कहते हैं। यह दधि भू-लोक से आता है। जैसे दूध को जमाने पर दही बनता है उसी प्रकार अन्न का कच्चा दूध पक कर ही अन्न बन जाता है, इसलिये उसे दधि कहते हैं। इस दधि से मांस, हड्डी आदि हमारे शरीर के घन भाग बनते हैं। अन्न में जो चिकनापन है, वही घृत है जिसके कारण आटे के उसनने पर उसमें लोच आता है। यह भाग अन्तरिक्ष का योगदान है। इससे हमारे अन्दर के तरल पदार्थ रस, रक्त आदि बनते हैं। तीसरा भाग मधु है। इसके कारण भोजन में मिठास आता है। यह द्युलोक से आता है। इस से हमारा शुक्र बनता है। चौथा भाग अमृत है। यह परमेष्ठी लोक से आता है। इसी के कारण पदार्थ में स्वादुता उत्पन्न होती है। यह सोम तत्त्व है। हमारा मन इसी से जुड़ा है। इस प्रकार अन्न के माध्यम से हमारा व्यक्तित्व मानो पूरे विश्व का ही सार ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार त्रिलोकी (अथवा परमेष्ठी सहित लोकचतुष्टय) अपने-अपने अंश की जो आहुति देते हैं, उससे अन्न का एक कण बनता है। तथा उसी अन्न के कण की जो आहुति हमारी उदरस्थ वैश्वानर अग्नि में पड़ती है, उससे हमारा शरीर ही नहीं, प्रत्युत प्राण तथा मन भी बनते हैं। यह प्रक्रिया है हमारे निर्माण में विश्व के योगदान की।

स्पष्ट है कि अन्न यज्ञ रूप है—यज्ञो वाऽन्नम्। यज्ञ का अर्थ है आदानविसर्ग। आदानविसर्ग अन्न पर ही निर्भर है। इसलिये अन्न को यज्ञ कहा गया है। आदानविसर्ग का अर्थ है तीनों (अथवा परमेष्ठी सहित चारों) लोकों की प्राणमात्रा तथा भूतमात्राओं का परस्पर आदान-प्रदान। जब ये लोक अपने अंश का त्याग करते हैं, तो वह तप होता है। इस अर्थ में समस्त लोक तपस्वी हैं। इस आदान-प्रदान के सम्बन्ध को अन्न-अन्नाद सम्बन्ध कहा जाता है। अन्नाद का अर्थ है—भोक्ता। अन्न का अर्थ है—भोग्य पदार्थ। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अन्न भी है और अन्नाद भी। इसी रहस्य को सामवेद यह कहकर प्रकट करता है—मैं अन्न तथा अन्नाद का भी भक्षण करता हूँ—अहमन्नमन्नमदन्तमग्नि।

## विश्व के पाँच पर्वों में अन्न-अन्नादभाव

अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है। इस दृष्टि से चन्द्रमा को भी अन्न कह दिया जाता है क्योंकि वह सोम रूप है। परमेष्ठी भी अन्न है क्योंकि वह भी सोम रूप है। सूर्य अग्नि रूप होने के कारण



अन्नाद है। पूर्ण क्रम इस प्रकार है कि पृथ्वी अग्नि, चन्द्रमा सोम, सूर्य अग्नि, परमेष्ठी सोम तथा स्वयम्भू अग्नि है। सोम की आहुति से अग्नि पुष्ट होती रहती है। इस प्रकार पाँच पर्वों में भी अन्न-अन्नादभाव है।

### यज्ञीय अन्न

पृथ्वी में जो वैष्णव प्राण है वही यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट होकर अधिक अन्न उत्पन्न कर सकता है। रासायनिक खाद पृथ्वी के पूषा तत्व को पुष्ट करता है, किन्तु सौर सावित्राग्निमूलक मधु रसमय वैष्णवप्राण रासायनिक खादों से समाप्त हो जाता है। ट्रैक्टर अपने दबाव से पृथ्वी के उस भाग को भी खोद देते हैं जो उत्तर मूल है, अर्थात् जहाँ पृथिवी की प्रसविनी शक्ति सुरक्षित रहती है। ऐसा अन्न भूतान्न है, आत्मान्न नहीं। तीन अंगुल तक पृथ्वी में वैष्णव-प्राण है, उसके नीचे पूषा प्राण है। तीन अंगुल से अधिक पृथ्वी खोदने पर पूषा प्राण जिस अन्न को जन्म देता है वह मात्रा में प्रभूत होने पर भी यज्ञीय नहीं होता।

दूसरी ओर तीन अंगुल से अधिक नीचे पृथ्वी के खोद दिये जाने पर पृथ्वी की प्रसविनीशक्ति का मूल आधार निर्बल हो जाता है तथा अन्ततोगत्वा वह पृथ्वी बंजर हो जाती है।

वेदों में अन्न को प्रधान कहा है इसलिए अन्न सबको ग्रहण कर लेता है। अन्न से सब विजित हैं। जो किसी का अन्न ले लेता है वह उसका दास हो जाता है—*अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम्। तस्माद्यावन्तो नोऽन्नमश्नन्ति, ते नः सर्वे गृहीता भवन्ति। एषैव स्थितिः। (शतपथ ब्राह्मण ४/६/५/४)।*

### अन्न के तीन भेद

छान्दोग्योपनिषद् में अन्न के तीन भेद बताये गये हैं—अन्न, जल तथा तेज—*अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्नमः। आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः सा मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्। अन्नमयं सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति (छान्दोग्य उपनिषद् ६/५/१-२-३-४)।*

अभिप्राय यह है कि हमारे व्यक्तित्व का निर्माण तीन तत्त्वों से हुआ है। अन्न का स्थूल भाग मल बनता है, मध्य भाग मांस बनता है और सूक्ष्म भाग मन बनता है। जल का स्थूल भाग मूत्र बनता है, मध्य भाग रक्त बनता है और सूक्ष्म भाग प्राण बनता है। तेज का स्थूल भाग अस्थि बनता है, मध्य भाग मज्जा बनता है और सूक्ष्म भाग वाक् बनता है। इस प्रकार मन अन्नमय है, प्राण आपोमय है और वाक् तेजोमयी है। ये वाक्, प्राण और मन ही मिलकर आत्मा कहलाते हैं।

### पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड

शरीर की दृष्टि से विचार करें तो हमारे व्यक्तित्व के तीन स्तर हैं—स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर, जिनका सम्बन्ध क्रमशः वाक्, प्राण और मन से है। दूसरी ओर हमारे व्यक्तित्व



को यदि हम इस वैदिक सिद्धान्त के आधार पर देखें कि जैसा पिण्ड में है वैसा ब्रह्माण्ड में है 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' तो ब्रह्माण्ड के पाँच पर्वों के आधार पर हमारे व्यक्तित्व के भी पाँच स्तर हो जाते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि जो बृहतर स्तर पर ब्रह्माण्ड में है लघुतर स्तर पर वही पिण्ड में है। जिन तत्त्वों से विश्व का निर्माण हुआ है उन्हीं तत्त्वों से पिण्ड का निर्माण हुआ है। जो प्रक्रिया विश्व के निर्माण में काम करती है वही प्रक्रिया पिण्ड के निर्माण में काम करती है। छोटा हो या बड़ा, सबमें वही तत्त्व रहते हैं और निर्माण की एक ही प्रक्रिया सर्वत्र काम करती है।

हमारे व्यक्तित्व के पाँच स्तरों का वर्णन कठोपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में है—अर्थ से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महान्-आत्मा तथा महान्-आत्मा से अव्यक्त सूक्ष्म है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषान् परं किञ्चित्, सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

(कठोपनिषद् १.३.१०-११)

अर्थ को शरीर अथवा भूतात्मा, मन को प्रज्ञान तथा बुद्धि को विज्ञान कहा जाता है। शरीर पृथ्वी से, मन चन्द्रमा से तथा बुद्धि सूर्य से जुड़ी है। यहाँ तक अनुभवगम्य स्तर है। महान्-आत्मा परमेष्ठी से जुड़ा है। यह महान्-आत्मा बुद्धि से परे है। सुषुप्ति में जब हमारी बुद्धि भी कार्य नहीं कर रही होती तो पाचनक्रिया, श्वासप्रशवास, रक्तसञ्चार आदि क्रियायें इस महान् आत्मा की ही प्रेरणा से होती रहती हैं। इस महान् से भी परे जो अव्यक्त है, वह प्रकृति की वह अवस्था है जिसे साङ्ख्य दर्शन में लिङ्गहीन बताया गया है। प्रकृति की इस सूक्ष्मतम अवस्था के बाद पुरुष आता है जो गुणातीत है। पुरुष से परे कुछ भी नहीं है।

पृथ्वी शरीर है—*यच्छरीरं सा पृथ्वी (ऐतरेय-आरण्यक २.३.३)* । हमारे शरीर में पृथ्वी विराजमान है—*पृथ्वी मे शरीरे श्रिता (तैत्तिरीय आरण्यक ३.१०.८.७)* । मन चन्द्रमा है—*यत्तन्मन एष स चन्द्रमा (शतपथ ब्राह्मण १०.३.३.७)* । सूर्य का तो बुद्धि से सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है। सविता देव को स्वयं ज्ञान ही माना गया है—*ब्रह्म वै देवः सविता (तैत्तिरीय संहिता ५.३.४.४)* । मन प्रज्ञान है—*यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च (यजुर्वेद ३४.३)* । बुद्धि विज्ञान है—*विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् (तैत्तिरीय आरण्यक १.५.१)* ।

मन और बुद्धि में अन्तर है। बुद्धि सौरी है वह स्वयं प्रकाशित है। मन चान्द्र है, परज्योति है। जैसे चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है वैसे मन बुद्धि के प्रकाश से प्रकाशित होता है। विषय मन पर आ जाते हैं; बुद्धि विषयों पर जाती है। मन पर जो विषय आ जाता है, मन तन्मय हो जाता है; फिर वह विवेक नहीं कर सकता। बुद्धि विषयों के बीच विवेक करती है। वह जिसे ठीक समझती है, उसका ग्रहण करती है, शेष का त्याग कर देती है। जब मन पर विषय आते हैं तो संस्कार बनते हैं, जब बुद्धि विषयों पर आ जाती है तो विद्या का प्रादुर्भाव होता है। हमारी



दृष्टि में सूर्य पर्यन्त ही सृष्टि आती है। इसके आगे के लोक हमारी दृष्टि में नहीं आते। अध्यात्म में भी हमारे अनुभव में बुद्धि ही आती है, किन्तु यदि थोड़ा विचार करें तो यह पता चलेगा कि हमारे शरीर में अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण क्रियायें हैं—पाचनक्रिया, रक्तसंचार, श्वास-प्रश्वास, नाड़ी का चलना—जो हमारे मन या बुद्धि के प्रयत्न के बिना ही अत्यन्त व्यवस्थित रूप में, न केवल जागते हुए, अपितु स्वप्न और सुषुप्ति में भी कार्य करती रहती हैं। निश्चय ही ये कार्य इतने व्यवस्थित हैं कि चेतना के सहयोग के बिना इनकी स्थिति नहीं मानी जा सकती। जो कार्य हम बुद्धिपूर्वक करते हैं उनमें तो बहुत अधिक त्रुटियां होती हैं, किन्तु ये क्रियाएं जिन्हें अस्वैच्छिक कहा जाता है, बहुत कम गड़बड़ी वाली हैं। स्पष्ट है कि इन क्रियाओं का सञ्चालन चेतना का वह अंश करता है, जो बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म है। इसी अंश को महत् तत्त्व कहते हैं। विज्ञान की भाषा में इसे अर्धचेतन मन कहा जाता है।

इस अर्धचेतन मन के आगे भी एक अचेतन मन है, जहाँ हमारे समस्त सुप्त संस्कार संगृहीत हैं। क्योंकि यह व्यक्त नहीं है, अतः इसे अव्यक्त कहते हैं। महत् को ही सूक्ष्मशरीर और अव्यक्त को ही कारणशरीर कहते हैं। आज मनोविज्ञान अर्धचेतन और अचेतन मन को चेतन मन की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। इन्हीं दो के प्रतीक विश्व में परमेश्वी और स्वयम्भू हैं। हमारे दैनन्दिन जीवन में सूर्य तक का लोक ही उपयोगी है, किन्तु इस सूर्यलोक का भी मूल परमेश्वी में और परमेश्वी का मूल स्वयम्भू में है, अतः इन परोक्ष तत्त्वों को जाने बिना प्रत्यक्ष तत्त्व की भी पूर्ण व्याख्या नहीं हो सकती।

हमारे व्यक्तित्व के स्थूल रूप से दो पक्ष हैं—आत्मा और शरीर, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो उसमें छः भाव हैं—अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द और सत्य। यदि हम अन्न को शरीर कहें तो शेष पाँचों भाग परोक्ष होने के कारण अन्तः संस्था कहलायेंगे। दूसरी दृष्टि से इनमें केवल सत्य आत्मा है, अन्न बहिःशरीर है, शेष सब अन्तः शरीर है। इस सारी प्रक्रिया को समझाने के लिए इन छह भावों का परिचय आवश्यक है।

## पञ्चकोश एवं तीन शरीर

उपनिषदों के अनुसार जिस समय शिष्य अपने स्वरूप की खोज में निकलता है तो सर्वप्रथम उसे अन्न से बनने वाला स्थूलशरीर दृष्टिगोचर होता है। थोड़ा और सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्राण प्रतीति में आता है। इसी क्रम में क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तक जाने में उसे मन, बुद्धि अथवा विज्ञान तथा आनन्द का अस्तित्व प्राप्त होता है। इनमें सबसे सूक्ष्म आनन्द कारणशरीर है। विज्ञान, मन और प्राण तीनों मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं तथा अन्न से निर्मित शरीर स्थूलशरीर कहलाता है। इस प्रकार ये तीन शरीर पाँच भागों में विभक्त होकर हमारे अस्तित्व के पाँच स्तरों को बताते हैं, तथापि इन पाँच स्तरों के बाद भी हमारे अस्तित्व का वह मूल स्तर छूट ही जाता है जिसे वेदान्त में आत्मा कहा गया है। वस्तुतः ये तीन शरीर जो उपर्युक्त पाँच भागों में विभक्त हैं, आत्मा के आवरण हैं। तीन शरीर के इन पाँच स्तरों को कोष इसलिए कहा जाता है, क्योंकि आत्मा इनसे आवृत रहती है। यह आत्मा ही, षष्ठ भाव, सत्य है।



## आनन्दमयकोष

आत्मा पाप-पुण्य मे परे है। वहाँ न जरा है, न मृत्यु, न शोक, न भूख और न प्यास। उसी से समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, उसी पर अवलम्बित होकर जीवित हैं और उसी में लीन हो जाते हैं—

सोऽपहतपाप्मा अजरः विमृत्युर्विशोकोऽविजिवत्स अपिपास.....यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति (तैत्तिरीयोपनिषद् ३.३) ।

इस निर्विकार आत्मा का प्रथम कोष आनन्दमयकोष है। इस स्थिति का अनुभव हम मयको सुषुप्ति के समय होता है। उस समय न ही जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर से होने वाले कर्म तथा ज्ञान रहते हैं, न ही सूक्ष्मशरीर से स्वप्न-अवस्था में होने वाले ज्ञान तथा कर्म। उस समय हमारे समस्त संस्कार सुषुप्ति-अवस्था में जिस रूप में रहते हैं उसे ही कारणशरीर कहा जाता है। यह कारणशरीर भी आत्मा की एक उपाधि है। इसे ही आनन्दमयकोष कहा जाता है। ये संस्कार अविद्यारूप हैं। अविद्या के घटक तीन गुण हैं—सत्त्व, रजस् और तमस्। जीव की सुषुप्ति अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण आनन्द तो रहता है, किन्तु उसका ज्ञान रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत रहता है इसलिए वह अल्पज्ञ और अनीश्वर है। इस अवस्था को ही हमने प्रारम्भ में प्राज्ञ कहा है। समष्टि की स्थिति में इस कारणशरीर से उपहित आत्मा ईश्वर कहलाती है। उस ईश्वर की माया में भी तीनों गुण हैं, किन्तु उसकी सुषुप्ति अवस्था में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत नहीं है इसलिए वहाँ सर्वज्ञत्व और सर्वेश्वरत्व है। ईश्वर की सुषुप्ति अवस्था का नाम प्रलय है। इस प्रकार यद्यपि उपाधि के भेद से हमारे समष्टि और व्यष्टि में भेद है, किन्तु निरुपाधिक रूप में आत्मा में व्यष्टि और समष्टि का भेद नहीं है। इसी तथ्य को वेदान्त के प्रसिद्ध महावाक्य 'तत्त्वमसि' में कहा गया है।

आनन्द ही शेष कोषों का मूलाधार है। विषयों के सम्पर्क से होनेवाला आनन्द समृद्धानन्द है। शान्तानन्द शान्त और एकरस है। समृद्धानन्द क्षणिक और ऐन्द्रिक है। आनन्दमयकोष के पाँच भाव हैं—प्रिय, मोद, प्रमोद, आनन्द और ब्रह्म। इनमें प्रथम चार व्यक्त हैं, पाँचवां अव्यक्त है। यह पाँचवां ही शान्तानन्द है। वित्त दो प्रकार के हैं—अन्तर्वित्त और बहिर्वित्त। ये दोनों भी दो-दो प्रकार के हैं—मुख्य और गौण। इन्द्रिय, प्राण, शरीर तथा अन्नमय कोष मुख्य अन्तर्वित्त हैं; बन्धु बान्धव गौणअन्तर्वित्त हैं। सदा उपयोग में आने वाले मुख्य बहिर्वित्त हैं तथा कभी कभी उपयोग में आने वाले गौण बहिर्वित्त हैं। मुख्य अन्तर्वित्त का प्रिय भाव से सम्बन्ध है। इसे शिरः कहा जाता है। गौण अन्तर्वित्त आनन्द से जुड़ा है। इसे आत्मा कहा जाता है। मुख्य बहिर्वित्त प्रमोद है। यह उत्तरपक्ष है। गौण बहिर्वित्त मोद है, यह दक्षिण पक्ष है। मुख्य अन्तर्वित्त आत्मा की पूर्णता करते हैं, इसीलिये उन्हें प्रिय कहते हैं। गौण अन्तर्वित्त लौकिक समृद्धि है। उसे आनन्द कहा जाता है। मुख्य बहिर्वित्त प्रमोद का कारण है और गौण बहिर्वित्त मोद का कारण है। मुख्य अन्तर्वित्त शिरः है। गौण बहिर्वित्त आत्मा है—*स वा एष पुरुषविध एष तस्य प्रियमेव शिरः; मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा (तैत्तिरीयोपनिषद् २.५) ।*

## विज्ञानमयकोष

सूक्ष्मशरीर के अन्तर्गत तीन कोष आते हैं। इनमें विज्ञानमयकोष ज्ञानशक्ति से युक्त कर्ता है, मनोमयकोष इच्छाशक्ति से युक्त करण है और प्राणमयकोष क्रिया शक्ति से युक्त कार्य है।

विज्ञानमयकोष में पाँच ज्ञानेन्द्रियां तथा बुद्धि समाविष्ट हैं। इसकी शक्ति ज्ञान है। विज्ञानमय कोष के स्तर पर ही हम अपने को कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी आदि मानते हैं। विज्ञानमयकोष क्योंकि सूक्ष्मशरीर के तीन कोषों में प्रथम है इसलिये विज्ञानमय कोष के अन्तर्गत सूक्ष्मशरीर की रचना को भी थोड़ा विस्तार से जान लेना उचित होगा। सूक्ष्मशरीर के सत्रह अवयव हैं—(१-५) श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां (६), निश्चयात्मिका अन्तःकरण की वृत्ति बुद्धि (७) सङ्कल्पविकल्पात्मिका अन्तःकरण की वृत्ति मन, (८-१२) वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा (१२-१७) प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच प्राण।

इनमें से बुद्धि महिन पाँच ज्ञानेन्द्रिययुक्त विज्ञानमयकोष मौरी बुद्धि की प्रतिष्ठा है। प्रज्ञान सभी में समान है, किन्तु विज्ञान में तारतम्य है। यह भी पुरुषविध है। इसके पाँच भाव हैं—श्रद्धा, सत्य, ऋत, योग और महः। श्रद्धा इसकी प्रतिष्ठा है, श्रद्धा को शिरःस्थानीय माना गया है। मनोमय ऋत दक्षिण पक्ष है, अङ्गिरात्मक अग्नि सत्य है, जो उत्तर पक्ष है। बुद्धियोग विज्ञानमयकोष की आत्मा है। चन्द्र प्राणरूप है महः इसकी पुच्छ है—*स वा एष पुरुषविध एव । तस्य श्रद्धेव शिरः, ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यमुत्तरः पक्षः, योग आत्मा, महः पुच्छं प्रतिष्ठा (तैत्तिरीयोपनिषद् २.४) ।*

## मनोमयकोष

सूक्ष्मशरीर के १७ अवयवों में से मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर मनोमयकोष कहलाती हैं। इसकी शक्ति इच्छा है। यजुः इसका सिर है। ऋक् दक्षिण पक्ष है। साम उत्तर पक्ष है। आदेश आत्मा है और अथर्वाङ्गिरस प्रतिष्ठा है। ऋक् का देव अग्नि है। अग्नि की दिशा दक्षिण है। साम आदित्यप्रधान है। उसकी दिशा उत्तर है। यजुः मुख्य होने के कारण सिर है। अथर्व सोमात्मक है। यह सोम अन्न लक्षण मन बन कर मैं यह करूँ, ऐसा आदेश देता है यही मनोमयकोष की आत्मा है और अथर्वाङ्गिरस उसकी पुच्छ है—*स वा एष पुरुषविध एव...तस्या यजुरेव शिरः, ऋग्दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्षः, आदेश आत्मा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा (तैत्तिरीयोपनिषद् २.३) ।*

मन के चार रूप हैं—श्वोवसीयस् मन, सत्त्वमन, सर्वेन्द्रियमन तथा इन्द्रियमन। इनमें श्वोवसीयस् मन ईश्वरीय मन है जो मनु रूप है और विश्व की क्रियाओं का सञ्चालन कर रहा है। सत्त्व मन वही है जिसे हमने पहले महत् कहा है। सर्वेन्द्रियमन वह है जो श्रोत्रादि सब इन्द्रियों के व्यापार को ग्रहण करता है। इन्द्रियमन एक स्वतन्त्र इन्द्रिय के रूप में है जो सङ्कल्प-विकल्प करता है।



## प्राणमयकोष

सूक्ष्मशरीर के पाँच प्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ मिलकर प्राणमयकोष बनाती हैं। क्रिया इस कोष की शक्ति है। पाँच कर्मेन्द्रियों के नाम हम विज्ञानमय कोष के अन्तर्गत सूक्ष्मशरीर का वर्णन करते समय दे चुके हैं। पाँच प्राणों में प्राण ऊपर की ओर चलने वाला नासिका के अग्रभाग में रहने वाला वायु है। अपान नीचे की ओर चलनेवाला वायु आदि स्थानों में रहने वाला वायु है। व्यान चारों ओर चलने वाला समस्त शरीर में व्याप्त वायु है। उदान कण्ठ स्थान में रहने वाला शरीर को छोड़ते समय ऊपर की ओर चलने वाला वायु है तथा समान शरीर के मध्य में गये हुए खाये पिये गये अन्न को व्यवस्थित करने वाला वायु है।

यह प्राण भूतमय शरीर का देवमय आधार है। यह इन्द्रियातीत होने के कारण अन्तरात्मा कहलाता है। शरीर के जिस भाग से प्राण निकल जाता है, वह भाग लकवे से ग्रस्त हो जाता है। इसी प्राण का वर्णन प्रश्नोपनिषद् (१९) में किया गया है—

*विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।*

*सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रज्ञानामुदयत्येष सूर्यः ॥*

यही प्राण भूतों में भी व्याप्त हैं। ऐतरेयआरण्यक में कहा गया है कि चींटी से लेकर आकाशपर्यन्त सब प्राण से विष्टब्ध है—*सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः । तद्यथाऽयमाकाशः ? प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, एवं सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात् ।*

बृहदारण्यक का कहना है कि अन्न बिना प्राण के सड़ जाता है तथा प्राण बिना अन्न के सूख जाता है। अतः ये दोनों ही देवता हैं तथा दोनों मिलकर पूर्णता को प्राप्त होते हैं—*अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुः । तन्न तथा । पूयति वा अन्नमृते प्राणात् । प्राणो ब्रह्मेत्येके आहुः । तन्न तथा । शुष्यति वै प्राणः, ऋतेऽन्नात् । एते ह त्वेव देवते एकधा भूत्वा परमतां गच्छतः (बृहदारण्यक ५.१२.१) ।* प्राणमयकोष शरीर का विधर्ता है। इसे ही अन्तरात्मा कहा जाता है। प्राणमयकोष भी अन्य कोषों के समान ही पुरुषविध है। प्राण को असत् कहा जाता है। इसके सात भेद साकञ्जप्राण कहलाते हैं। प्राणमय कोष का जैसा संस्थान होता है वैसा ही संस्थान अन्नमय कोष का बन जाता है। यह संस्थान सबके भिन्न-भिन्न हैं, जिनका कारण शुक्र में रहने वाला महान् आत्मा है, जिसे बीजपिण्ड कहा जाता है। इस महान् आत्मा के छः भाव हैं सत्त्व, रजस्, तमस्, आकृति, प्रकृति और अहङ्कृति। यह बीजपिण्ड मुख्यतः आकृति के कारण ८४ प्रकार का होकर ८४ लाख प्रकार का हो जाता है, जो विभिन्न योनियों का हेतु है।

पार्थिव प्राण बस्तिगुहा में है, वायव्य प्राण उदरगुहा में है एवं दिव्यप्राण उरोगुहा में है। ये प्राण पांच भागों में विभक्त हो जाते हैं—पार्थिव प्राण आते समय समान तथा जाते समय अपान कहलाता है, दिव्य प्राण आते समय प्राण तथा जाते समय उदान कहलाता है। अन्तरिक्ष प्राण वायव्य है। यही व्यान कहलाता है। इसी पर शेष प्राण टिके हुए हैं—*मध्ये वामनमासीन सर्वे देवा*

उपासते। दिव्य प्राण मूर्धा है। प्राणमयकोष का प्राणापान के संघर्ष के द्वारा जठराग्नि की रक्षा करने वाला व्यान दक्षिण पक्ष अर्थात् आग्नेय पक्ष है और अपान उत्तर पक्ष अर्थात् सौम्य पक्ष है। स्वयं प्राण शिर है। आकाश आत्मा है। पृथिवी पुच्छ प्रतिष्ठा है—*तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा (तैत्तिरीयोपनिषद् २.२)।*

### अन्नमयकोष

आत्मा से अर्थात् मनोर्गर्भित प्राण से आकाश (वाक्) उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी होती है। पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न बनता है। अन्न से रेतस् तथा रेतस् से पुरुष बनता है। यही शरीर के निर्माण की प्रक्रिया है। मनुष्य में आधिदैविक ब्रह्म का पूर्णतः समावेश है इसलिये यद्यपि अन्य पशु भी इसी प्रक्रिया से बनते हैं, किन्तु उन्हें पुरुष नहीं कहा जाता।

यह अन्न रसमय शरीर सप्तचिति रूप है। मध्य का कबन्ध (धड़) एक भाग है, बायें दो हाथ, पाँव तथा दाहिने दो हाथ, पाँव ये चार भाग हैं। एक भाग सिर है और एक भाग रीढ़ की हड्डी का अन्तिम छोर। इसमें मध्य भाग सबमें मुख्य है। इसे ही तनु कहा जाता है। आत्मा का एक लक्षण तनु भी है—*आत्मा वै तनूः (शतपथब्राह्मण ६.७.२.६)*। हाथ-पाँव को पक्ष मानकर, रीढ़ की हड्डी के अन्तिम छोर को पुच्छ मान कर पुरुष को एक पक्षी के समान मान लिया है और इसलिये इसे सुपर्ण भी कहा जाता है।

जो विश्व में भू, भुवः और स्वः हैं वही शरीर में बस्ति, उदर और उरः हैं। इन तीनों का सम्बन्ध अग्नि, वायु और आदित्य से है। यह अग्नि मनुष्य में ही नहीं है, पूरे विश्व में है। इसका काम है पिण्ड का निर्माण करना—*सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तर्षिषः समिधः सप्तहोमाः सप्त इमे लोका येषु प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सत।*

हमारे शरीर में चार संस्थायें हैं और चारों संस्थाओं में सात-सात प्राण हैं—१. प्रथम शिरोगुहा में सात प्राण हैं—दो श्रोत्र, दो चक्षु, दो नासा और एक मुख। २. दूसरी उरोगुहा में भी सात प्राण हैं—दो प्राण, दो स्तन प्राण, दो फुम्फुस प्राण और एक हृदय प्राण। ३. तीसरी गुहा उदर गुहा है। उसमें भी सात प्राण हैं—यकृत, प्लीहा, दो वृक्क, दो प्लोम और एक नाभि प्राण। ४. चौथी बस्तिगुहा में भी सात प्राण हैं—दो श्रोणी, दो आण्ड, एक मूत्रनलिका, एक रेतोनलिका, और एक मलद्वार। वायु से प्राण, आदित्य से चक्षु, दिक्सोम से श्रोत्र तथा भास्वरसोम से मन—इन पाँच इन्द्रियप्राणों का निर्माण होता है। वैश्वानर अग्नि का प्रवर्ग्य वैश्वानर प्राण है। हिरण्यगर्भ वायु का प्रवर्ग्य तैजसप्राण तथा दिव्य इन्द्र का प्रवर्ग्य प्राज्ञप्राण है।

### आत्मा के सम्बन्ध में अनेक विचार : देहात्मवाद

आत्मा का अर्थ है—मेरा अपना स्वरूप। इस सम्बन्ध में सदानन्द ने वेदान्तसार में सामान्य मनुष्यों में प्रचलित मतों का उल्लेख किया है। साथ ही उन मतों के सम्बन्ध में कुछ युक्ति तथा



श्रुतिप्रमाण भी दिये हैं। कुछ चार्वाक ऐसा मानते हैं कि स्थूलशरीर ही आत्मा है जैसा कि 'मैं मोटा हूँ मैं दुर्बल हूँ', इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति अपने शरीर को ही 'मैं' समझता है। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीयोपनिषद् की श्रुति भी प्रमाण है—*स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः (तैत्तिरीयोपनिषद् २.१.१)*। कुछ चार्वाक इससे अधिक गहरे में जाकर इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं 'जैसे कि मैं बहरा हूँ मैं काणा हूँ' इत्यादि वाक्यों को बोलते समय हम इन्द्रियों को ही मैं मानकर बोलते हैं। इस सम्बन्ध में श्रुति प्रमाण है—*ते हे प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः (छान्दोग्योपनिषद् ५.१.७)*।

### प्राण ही आत्मा है

अन्य चार्वाक प्राणों को आत्मा मानते हैं, जैसा कि हम 'मैं भूखा हूँ' मैं प्यासा हूँ, इत्यादि वाक्यों को बोलते समय मानते हैं। इस सम्बन्ध में श्रुति का प्रमाण है—*अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। (तैत्तिरीयोपनिषद् २.२.१)* इससे भी अधिक सूक्ष्म में जाकर कुछ चार्वाक मन को आत्मा मानते हैं। जैसा कि हम 'मैं संकल्प करता हूँ' मैं विकल्प करता हूँ' इत्यादि वाक्यों को बोलते समय मानते हैं। श्रुति का प्रमाण है—*अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः (तैत्तिरीयोपनिषद् २.३.१)*।

### बुद्धि ही आत्मा है

इसके विपरीत बौद्ध लोगों का कहना है कि विज्ञान अथवा बुद्धि ही आत्मा है क्योंकि हम लोग ऐसा प्रयोग करते हैं 'मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ'। इस सम्बन्ध में श्रुति का प्रमाण है—*अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः (तैत्तिरीयोपनिषद् २.४.१)*।

### आनन्द ही आत्मा है

नैयायिक तथा प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक आनन्द को ही आत्मा मानते हैं। आनन्द की स्थिति में बुद्धि का भी लय हो जाता है। इसलिये उस समय व्यक्ति अपने आपको अज्ञ अनुभव करता है। इसी स्थिति में वह कहता है—मैं अज्ञानी हूँ। इस मत के समर्थन में श्रुति है—*अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः (तैत्तिरीयोपनिषद् २.५.१)*।

### अज्ञानोपहित चैतन्य ही आत्मा है

मीमांसकों में कुमारिल भट्ट का कहना है कि अज्ञानोपहित चैतन्य ही आत्मा है। जैसा कि हम कहते हैं कि मैं अपने को नहीं जानता। इस सम्बन्ध में श्रुति प्रमाण है—*प्रज्ञानघन एवानन्दमयः (माण्डूक्योपनिषद्, आगम प्रकरण, ५)*।

### शून्य ही आत्मा है

कुछ बौद्ध शून्य को ही आत्मा मानते हैं। विज्ञान को आत्मा मानने वाले बौद्ध 'विज्ञानवादी' कहलाते हैं तथा शून्य को आत्मा मानने वाले माध्यमिक मत के अनुयायी 'शून्यवादी' बौद्ध कहलाते हैं।

## सिद्धान्तपक्ष

जहाँ तक वैदिक मत का सम्बन्ध है वह इन सभी स्थितियों को आत्मा का कोप मानता है। स्वयं आत्मा इन सबसे भिन्न है। वस्तुतः उस आत्मा का वर्णन शब्दों में हो ही नहीं सकता। श्रुति में जो इन विभिन्न स्तरों को आत्मा कहा गया है वह शिष्य की बुद्धि को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने की दृष्टि से है, न कि तथ्य की दृष्टि से।

## चार अवस्थायें

हमारे अनुभव में अपने अस्तित्व के तीन स्तर आते हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीन के आधार पर माण्डूक्योपनिषद् में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त एक चतुर्थ अवस्था ऐसी भी है जिसका अनुभव केवल योगियों को होता है, सामान्य पुरुषों को नहीं। इसलिए इसका नाम तुरीय अवस्था है; तुरीय अर्थात् चतुर्थ अवस्था।

## वैश्वानर : जागरितावस्था

वैश्वानर भोक्तात्मा के तीन विवर्तों में सबसे स्थूल है, क्योंकि इसका सम्बन्ध स्थूलशरीर से है। जागरितावस्था में हमारी क्रिया प्रधान होती है तथा प्रज्ञा बहिर्मुखी होती है। इस अवस्था के सात अङ्ग और १९ मुख कहे जाते हैं। सात अङ्ग हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी तथा प्राण। १९ मुख हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार। इनमें मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार को अन्तःकरणचतुष्टय कहा जाता है।—जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशति-मुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथम पादः (माण्डूक्योपनिषद् ३) ।

## तैजस : स्वप्नावस्था

वैश्वानर जागरितावस्था है तो तैजस स्वप्नावस्था है। स्वप्नावस्था में हमारी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। जागरितावस्था में महान्, विज्ञान और प्रज्ञान तीनों काम करते हैं। स्वप्नावस्था में प्रज्ञान सो जाता है, केवल महान् और विज्ञान जागते हैं। स्वप्नावस्था में भी जागरितावस्था के समान ही सात अङ्ग तथा उन्नीस मुख रहते हैं, किन्तु भोग स्थूल भोगों का न होकर सूक्ष्म का होता है। स्वप्नावस्था में हमारा स्थूलशरीर निश्चेष्ट हो जाता है। किन्तु मनोमयकोष में इन्द्रियाँ सूक्ष्म रूप से सक्रिय रहती हैं। इन्द्रियों के इस सूक्ष्म रूप को ही सूक्ष्मशरीर कहा जाता है। स्वप्नावस्था में हम बहिर्प्रज्ञ के स्थान पर अन्तःप्रज्ञ होते हैं—स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः। (माण्डूक्योपनिषद् ४) । स्वप्नावस्था में हम अपने मनोराज्य में विचरण करते हैं।

## प्राज्ञ : सुषुप्त्यवस्था

सुषुप्त्यवस्था का सम्बन्ध कारणशरीर से है। इस अवस्था में विज्ञान भी अपना कार्य बन्द कर देता है। प्रज्ञान ने तो अपना कार्य स्वप्नावस्था में ही बन्द कर दिया था, सुषुप्त्यवस्था में केवल



महान् ही अपना कार्य करता है। इस कारण मन और बुद्धि की कोई क्रिया न होने पर भी पाचनक्रिया रक्तसंचार, नाडी स्पन्दन इत्यादि होते रहते हैं। यदि महान् भी सो जाये तो मृत्यु हो जाती है। प्रज्ञान इन्द्रियों के द्वारा विषयों को देखता है। विज्ञान संस्कारों के बल पर अन्तर्मुख होकर विषयों को देखता है। सुषुप्त्यवस्था में विज्ञान संस्कारों सहित लीन हो जाता है। प्रगाढनिद्रा में मनोराज्य के सुख-दुःख नहीं रहते, केवल आनन्द ही रहता है। जागरितावस्था में और स्वप्नावस्था में हमारी प्रज्ञा नाना रूप वाली होती है, किन्तु सुषुप्त्यवस्था में वह एकीभूत हो जाती है। उस समय केवल चेतन अर्थात् स्वयं का बोध ही शेष रहता है।—सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः (माण्डूक्योपनिषद् ५) ।

### तुरीयावस्था

इन तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त एक चौथी अवस्था तुरीयावस्था है। यहाँ वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ तीनों आत्मा में लीन हो जाते हैं। यह अवस्था न अन्तः प्रज्ञ है, न बहिः प्रज्ञ, न उभयतः प्रज्ञ, न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ और न अप्रज्ञ। इसका वर्णन केवल निषेध की भाषा में ही हो सकती है, क्योंकि यहाँ समस्त प्रपञ्च शान्त हो जाते हैं। यह शिव अद्वैत की स्थिति है।—नान्तः प्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञानघनं प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमनाग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेयः (माण्डूक्योपनिषद् ९) ।

### शरीर तथा प्राण

वैश्वानर अग्नि सात धातुओं को बनाता है। उन धातुओं में जहाँ तक रक्त है वहाँ तक प्रज्ञान-आत्मा है। यह प्रज्ञान-आत्मा प्राज्ञ, तैजस और वैश्वानर का अधिष्ठाता है। शरीर की सात धातुओं को ही वाक् कहा जाता है। शरीर पार्थिव है। उसकी माता पृथ्वी है। इस शरीर में प्राण विचरण करता है। इसलिये प्राणवायु को मातरिश्वा कहा जाता है। प्रज्ञान के बिना भोग सम्भव नहीं है।

### प्राज्ञ इन्द्र की ज्येष्ठता

स्वप्नावस्था में जिस मनोजगत् का भोग होता है उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—भावना और वासना। भावना ज्ञानेन्द्रियों से बनती है, वासना कर्मेन्द्रियों से बनती है। वैश्वानर और तैजस की अपेक्षा प्राज्ञ प्रज्ञान के अधिक निकट है। केनोनिषद् की एक कथा से यह बात स्पष्ट होती है। एक यक्ष के सम्मुख अग्निदेव आये। यक्ष का अर्थ है अदभुत। ब्रह्म अदभुत है इसलिये ब्रह्म को ही यक्ष कहा जाता है। उस यक्ष ने अग्नि के सम्मुख एक तिनका रखा। अग्नि ने पूरा बल लगाया, किन्तु उस तिनके को नहीं जला सके। फिर वायु देव आये और वायु ने भी पूरा बल लगाया। वह भी उस तिनके को नहीं उड़ा सके। सबसे अन्त में इन्द्र आये। इन्द्र तैजस प्राज्ञ का नाम है। अग्नि और वायु प्रज्ञान के विजातीय हैं, किन्तु प्राज्ञ प्रज्ञान का सजातीय है। इन्द्र के सम्मुख वह यक्ष विलीन हो गया। स्वजातीय स्वजातीय में विलीन हो जाता है। यह शान्त मन है। यही इन्द्र

है, क्योंकि इसने उस यक्ष ब्रह्म को सबसे पहले जाना, सबसे पहले उसका स्पर्श किया, इसलिये वह देवताओं का राजा बन गया। इस प्रकार मन ही इन्द्रियों का स्वामी बन गया।—*स हि नेदिष्टं पस्पर्श स हि प्रथमं विदाञ्चकार ब्रह्मेति* (केनोपनिषद् २.२८.३) ।

त्रिविध पुरुषों में इन्द्र अक्षर है, विष्णु अव्यय है और ब्रह्मा क्षर है। यद्यपि पिण्ड का निर्माण अग्नि से होता है, किन्तु उसका सञ्चालन अक्षर इन्द्र ही करता है। इन्द्र का ही अंश जीव में आकर प्राज्ञ कहलाता है। यह प्राज्ञ सर्वज्ञ है, किन्तु अविद्या के कारण वह अपने को अल्पज्ञ मानता है।

जागरितावस्था में वैश्वानर का वैश्वानर से ही सम्बन्ध होता है। स्वप्नावस्था में तैजस, जिन विषयों को जानता है, वे स्थूल नहीं, बल्कि प्राणभूत होते हैं। स्वयं तैजस भी वायु रूप होने के कारण प्राणरूप है इसलिये वह उन्हें जान लेता है। सुषुप्ति में प्राज्ञ और प्रज्ञान दोनों एक हो जाते हैं। उस समय केवल ज्ञान ही शेष रहता है, अन्य कोई विजातीय पदार्थ शेष नहीं रहता। वैश्वानर पृथ्वी से जुड़ा है। तैजस अन्तरिक्ष से जुड़ा है, प्राज्ञ द्युलोक से जुड़ा है, तो महान् परमेष्ठी से जुड़ा है। इनमें अक्षर का प्रतिनिधि प्राज्ञ अथवा इन्द्र कुर्वद्रूप है। वही सबका मूल कारण है। उमके बिना अतिकुर्वाण अव्यय और विकुर्वाण क्षर कुछ नहीं कर सकते।

### अ उ म्, ओम्

शब्दब्रह्म का सर्वश्रेष्ठ रूप ओ३म् है। ओ३म् का अकार वैश्वानर है। इसकी उपासना से समस्त लौकिक कामनाएं पूरी होती हैं। उकार तैजस है। वैश्वानर में अर्थ है। तैजस में क्रिया है। अर्थ की पुष्टि क्रिया से होती है। क्रिया से ही अन्न का परिपाक होता है। क्रिया के बिना मन भी निर्बल रह जाता है। तैजस उत्कर्ष को बताता है। तैजस वैश्वानर और प्राज्ञ दोनों से जुड़कर उनका सञ्चालन करता है। जो तैजस की उपासना करता है उसके सब मित्र हो जाते हैं। उसके वंश में कोई मूर्ख नहीं होता। तीसरा वर्ण “म्” है। “म्” का अर्थ सीमा है। जो म् की उपासना करता है वह समस्त वैभव को पा लेता है। अ उ म् के अतिरिक्त एक चतुर्थ मात्रा है जो अखण्ड और अव्यवहार्य है; वही तुरीयस्थिति है।

इस प्रकार ओङ्कार में हमारे व्यक्तित्व के चारों स्तरों का प्रतिनिधित्व हो जाता है। इसलिए जो ओङ्कार को जानता है वह अपने को जान लेता है और जो अपने को जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है। इसलिये ओङ्कार का ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। कठोपनिषद् में कहा है कि समस्त वेद इसी ओङ्कार की व्याख्या करते हैं। समस्त तपस्या इसी की प्राप्ति के लिये की जाती है और इसी की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति  
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।  
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति  
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

(कठोपनिषद् १.२.१५)



इमी ओङ्कार को शब्दब्रह्म मानकर यह उक्ति प्रसिद्ध हो गई—

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति । (ब्रह्मविन्दूपनिषद्, १७)

यदि ओङ्कार के उपर्युक्त विश्लेषण पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि हमारे व्यक्तित्व के दो स्तर हैं। एक अ उ म् द्वारा उपलक्षित वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ जिसका अनुभव हम सबको क्रमशः जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में होता है। इसलिये इसे हमारे अस्तित्व का व्यावहारिक पक्ष कहा जा सकता है, किन्तु हमारे व्यक्तित्व का एक ऐसा अंश भी है जो इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर है वह हमारे व्यवहार में नहीं आता—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः ।

एवमोङ्कार आत्मैव ।

संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥

(माण्डूक्यकारिका, आगमप्रकरण, १२)

वह हमारा पारमार्थिक स्वरूप है। हमारा व्यावहारिक स्वरूप विज्ञान अथवा कर्म का विषय है। हमारा पारमार्थिक स्वरूप ज्ञान का विषय है। वैदिक जीवनदृष्टि इन दोनों के समन्वय पर बल देती है।

## परलोक

अनादिकाल से मनुष्य इस प्रश्न से जूझता रहा है कि मरणोपरान्त जीव कहाँ जाता है। इस विषय का ज्ञान न प्रत्यक्ष द्वारा हो सकता है, न अनुमान द्वारा। किन्तु जैसा हम विषयप्रवेश में बता चुके हैं, वेद की वेदता इसी में है कि वह उन विषयों का ज्ञान करवाता है जिन विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा नहीं हो सकता।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।

एतद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥

मरने के बाद हम सामान्यतः आत्मा की तीन स्थितियाँ मानते हैं—(१) जीव अपने कर्मानुसार किसी भी योनि में नया शरीर धारण कर लेता है।

(२) पुण्यवान् जीव स्वर्ग में जाता है।

(३) ज्ञानवान् जीव मुक्त हो जाता है और ब्रह्म में लीन हो जाता है।

उपर्युक्त अवधारणायें गलत नहीं हैं, किन्तु हमें इस अधिकरण के उत्तरार्ध में यह विचार करना है कि—

- (i) मरने के अनन्तर किसी भी गति को प्राप्त होने वाले जीव से हमारा क्या अभिप्राय है ?
- (ii) वे योनियाँ कितने प्रकार की हैं जिनमें जीव जा सकता है ? स्वर्ग कितने प्रकार के हैं तथा मुक्ति कितने प्रकार की हैं ?

(iii) आत्मा की कौन सी गति किन कारणों से और किस प्रकार होती है।

### मरणोपरान्त सङ्क्रमण करने वाला जीव

यह तो स्पष्ट है कि मरणोपरान्त हमारा स्थूलशरीर कहीं भी नहीं जाता। स्थूलशरीर तो पाँच तत्त्वों के पाँच तत्त्वों में मिल जाने से यहीं लीन हो जाता है। इसलिये मरने का एक नाम पञ्चत्व को प्राप्त हो जाना भी है। पञ्चत्व को प्राप्त होना भी तीन प्रकार का है; पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश का इन्हीं पाँच भूतों में लीन हो जाना भूतपञ्चत्व है। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और इन्द्रियों का क्रमशः अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और दिक् में लीन हो जाना देवपञ्चत्व है। चिदात्मा, सूत्रात्मा, क्षेत्रज्ञात्मा, महानात्मा और भूतात्मा का क्रमशः स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र और पृथिवी में लीन हो जाना आत्मपञ्चत्व है। अतः मरणोपरान्त हमारे व्यक्तित्व के वे घटक जो प्रकृति के भिन्न-भिन्न तत्त्वों से आये ये प्रकृति के इन्हीं मूल उद्गम स्थानों में लीन हो जाते हैं। इसे ही पञ्चत्व गति कहते हैं। पञ्चत्व को प्राप्त होने वाले इन तत्त्वों के कहीं अन्यत्र जाने का प्रश्न नहीं उठता।

### परलोकगामी सूक्ष्मशरीर : चन्द्रलोक

दूसरी ओर वेदान्त में प्रसिद्ध वह आत्मा जो विभु, सर्वव्यापक और निर्विकार है तथा जिसे अखण्डात्मा भी कहा जाता है गति कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह सर्वव्यापक है। अतः मृत्यु के उपरान्त सूक्ष्मशरीर ही गति करता है। सूक्ष्मशरीर में मन की ही प्रधानता रहती है और मन का सम्बन्ध चन्द्रमा से है इसलिये अधिकतर सम्भावना यह रहती है कि मन चन्द्रमा के आकर्षण से बँधकर सूक्ष्मशरीर को चन्द्रलोक में ले जायेगा। यह चन्द्रलोक ही पितृलोक कहलाता है, क्योंकि अधिकतर जीव मरणोपरान्त यहीं जाते हैं।

### सूर्यलोक

किन्तु इसके दो अपवाद भी हैं। यदि कोई साधक तपस्या तथा योग के बल पर अपनी बुद्धि को इतना अधिक प्रबल बना दे कि उसका मनस्तत्त्व बुद्धितत्त्व से अभिभूत हो जाये तो वह चन्द्रमण्डल का भेदन करके सूर्यमण्डल में पहुँच जाता है, क्योंकि बुद्धि का सम्बन्ध सूर्य से है तथा सूर्य देवप्राणों की समष्टि है इसलिये इसे देवगति भी कहा जाता है और क्योंकि सूर्य प्रकाशमान है इसलिये इसे स्वर्गगति भी कहते हैं। क्योंकि अर्चि में भी प्रकाश रहता है इसलिये इसे अर्चिमार्ग भी कहा जाता है।

### दुर्गति

चन्द्रलोक में भी न जा पाने वालों का एक दूसरा वर्ग है जिसका मन धन, भवन इत्यादि पार्थिव पदार्थों में ही भटका रह जाता है। इनके मन पर पृथिवी का आवरण इतना गहरा चढ़ जाता है कि इनका जीव मरणोपरान्त पृथिवी से ऊपर ही नहीं उठ पाता और ये चन्द्रलोक तक भी नहीं जा पाते। पार्थिव वस्तुओं की वासना प्रबल होने के कारण इनके मन को भी वह उसी प्रकार दबा लेती है जिस प्रकार तुम्बी तथा तुम्बी के जल में तैरने की शक्ति को गाढ़ी मिट्टी दबा लेती है—यह



सबसे निकृष्ट स्थिति है। इसलिये इसे दुर्गति कहा गया है। इसकी अपेक्षा चन्द्रलोक अथवा पितृलोक श्रेष्ठ है और चन्द्रलोक की अपेक्षा भी सूर्यलोक अथवा देवलोक श्रेष्ठ है।

### सूर्यमण्डल का भेदन

अब तक वर्णित सभी लोकों का सम्बन्ध सूर्यलोक तक है। पृथिवी से दुर्गति का सम्बन्ध है, मन से चन्द्रलोक का सम्बन्ध है और बुद्धि से सूर्यलोक का सम्बन्ध है। जहाँ तक सूर्य है वहाँ तक मृत्यु का साम्राज्य है। इसलिये इन तीनों ही गतियों में रहने वाला जीव जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। पुण्य के क्षीण होने पर जीव को स्वर्ग से भी मर्त्यलोक में आना पड़ता है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*। शास्त्र का प्रमाण है कि सूर्य से नीचे जो भी है वह मृत्यु से व्याप्त है—*यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात्सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्*। मर्त्यलोक, चन्द्रलोक और देवलोक—तीनों ही कर्म से प्राप्य हैं, किन्तु जब तक वासना है तब तक सकाम कर्म करने वाला जीव सूर्यमण्डल का भेदन नहीं कर सकता। जन्म-मरण से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—निष्कामता। निष्काम कर्म द्वारा ही जीव उस स्थिति को प्राप्त होता है जिसे सामान्यतः मोक्ष और सामवेद की भाषा में गोसव यज्ञ तथा यज्ञ की भाषा में पञ्चदशाह यज्ञ कहते हैं। यह स्थिति बाईसवें अहर्गण से छत्तीसवें अहर्गण पर्यन्त पन्द्रह अहर्गणों में व्याप्त है, क्योंकि इक्कीसवें अहर्गण तक तो सूर्य है। उसके अनन्तर ही बाईसवें अहर्गण से सूर्यमण्डलातीत स्थिति है। सूर्य का सम्बन्ध बुद्धि से है। सूर्य के अनन्तर बुद्धि की गति नहीं है। कठोपनिषद् ने भी इस स्थिति को बुद्धि से परे बताया है—*यो बुद्धेः परतस्तु सः*। यह जीव कर्म के पाश से मुक्त हो गया इसलिए इसके लिए कहा जाता है—*न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्*। यह जीव सब पापों को पार कर लेता है—*सर्वं पाप्मानं तरति*। वह पापों को तपा देता है, पाप उसे नहीं तपाते—*नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति* (बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.२३)।

मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट शब्दों में कहता है कि यह स्थान विरज, नैष्कर्म्य को प्राप्त जीवों को सूर्य द्वार से गुजरकर प्राप्त होता है; जहाँ वह अमृत अव्ययपुरुष है—*सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा* (मुण्डकोपनिषद् १.२.११)।

इस मुक्त गति से उत्क्रमण करने वाले जीव को भी दो प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं—अपरामुक्ति और परामुक्ति।

### अपरामुक्ति

अपरा मुक्ति के अन्तर्गत जीव यद्यपि पाप-पुण्य दोनों का अतिक्रमण कर जाता है, तथापि उसका जीवत्व सुरक्षित रहता है। इस अपरा मुक्ति के दो भेद मुख्य हैं—कामप्र और अशोकमहिम। सूर्य से ऊपर पहुँचने पर भी जीव चौबीसवें अहर्गण तक कामना से सर्वथा मुक्त नहीं होता, किन्तु वह जो भी कामना करता है उसकी वही कामना पूरी हो जाती है। इसलिये इसे कामप्र कहा जाता है। इस कामप्र-मुक्ति की अवस्था में जीव ब्रह्मलोक में रहता है और ब्रह्म के सान्निध्य में रहता है इसलिये इसे सालोक्य और सामीप्य भी कहा जाता है। पच्चीसवें अहर्गण से छत्तीसवें अहर्गण पर्यन्त अशोकमहिमलोक कहलाता है। कामप्रलोक में यद्यपि सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, किन्तु

कामनाएं उत्पन्न अवश्य होती हैं। अशोकमहिमलोक की यह विशेषता है कि वहां कामनाएं उत्पन्न ही नहीं होती। अशोकमहिमलोक में ब्रह्म का सारूप्य और ब्रह्म का अभेद स्थापित हो जाने से इसे सारूप्य, सायुज्य भी कहा जाता है। इनमें बाईसवें अहर्गण पर सालोक्यमुक्ति, तेईसवें चौबीसवें अहर्गण पर सामीप्यमुक्ति, पच्चीस से तीस अहर्गण पर सारूप्यमुक्ति और इकतीसवें से छत्तीसवें अहर्गण पर सायुज्यमुक्ति का लोक है।

### परामुक्ति

यदि अपरामुक्ति उपासना से प्राप्त होती है, तो परामुक्ति ज्ञान का फल है। क्योंकि यह अपरा की अपेक्षा उत्कृष्ट है इसलिए इसे परामुक्ति कहा जाता है। इसका स्थान छत्तीसवें अहर्गण से ऊपर अड़तालीसवें अहर्गण तक है। यह स्थान परमाकाश का है। यहाँ पहुँचकर जीव नाम-रूप से मुक्त हो जाता है। इस मुक्ति का वर्णन कठोपनिषद् में इन शब्दों में हुआ है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।

एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥—(कठोपनिषद् २.१.१५)

इस परामुक्ति के भी दो भेद हैं—क्षीणोदरक तथा भूमोदरक। इन्हें ही क्रमशः कैवल्य और निर्वाण कहते हैं। ज्ञानमार्ग से क्षीणोदरकमुक्ति और योगमार्ग से भूमोदरकमुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञानमार्ग में वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा छोड़नी पड़ती है तथा इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि समस्त आध्यात्मिक प्रपञ्चों का भी त्याग करना पड़ता है इसलिए इसे क्षीणोदरक कहा जाता है। इसके विपरीत योगी सभी परिग्रहों में आत्मभूमा की भावना रखते हैं इसलिए इसे भूमोदरक कहा जाता है। इस मार्ग का अनुगामी लोकसङ्ग्रहभाव रखता है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी भी मुक्ति है जिसे समवलय कहते हैं। जो जीव पृथिवी पर करते हुए ही सर्वत्र आत्मदर्शन से इतने सुदृढ़ भाव में स्थित हो जाता है कि उसे आत्मा के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता, उसका यहीं आत्मभाव में विलयन हो जाता है—*न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते*। इसे ही समवलय मुक्ति कहा जाता है। वस्तुतः यह गति नहीं है क्योंकि इसमें जीव कहीं जाता नहीं; अतः इसे अगति कहना चाहिये। यही विदेहमुक्ति या सद्योमुक्ति कहलाती है। इस समवलय मुक्ति के भी परामुक्ति के समान ही क्षीणोदरक तथा भूमोदरक दो भेद हो जाते हैं।

इनमें भक्तियोग से अपरामुक्ति, ज्ञानयोग से परामुक्ति तथा बुद्धियोग से समवलयमुक्ति प्राप्त होती है।

### सात स्वर्ग

स्वर्ग लोक की चर्चा हमने ऊपर की। यह भी बतलाया कि इस लोक का सूर्य से सम्बन्ध है। पृथिवी के सत्रहवें अहर्गण के अनन्तर पार्थिव-अग्नि के साथ सौर-इन्द्र का समन्वय हो रहा है। सत्रहवें अहर्गण से लेकर पच्चीसवें अहर्गण तक नौ अहर्गणों में यह समन्वय होता रहता है। इसे ही नवाहयज्ञ कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक अहर्गण पर एक-एक स्वर्ग है। इनमें भी सत्रहवें अहर्गण पर नाचिकेतस्वर्ग है जिसे ब्रह्मविष्टप कहा जाता है। इक्कीसवें अहर्गण पर नाकस्वर्ग है जिसे विष्णुविष्टप कहा जाता है और पच्चीसवें अहर्गण पर प्रलस्वर्ग है जिसे इन्द्रविष्टप कहा जाता है। इन तीनों स्वर्गों को मिलाकर त्रिविष्टप कहते हैं। शेष अठारह से चौबीस तक के अहर्गणों में

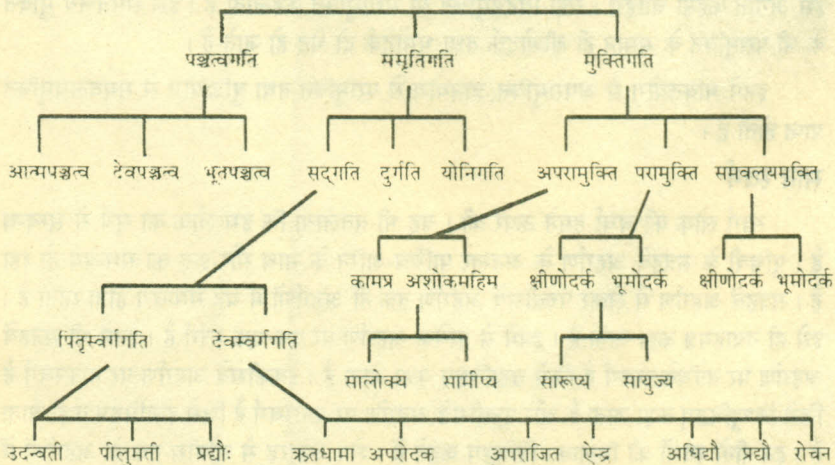


अठारहवें अहर्गण पर ऋतधामा नाम का आग्नेयस्वर्ग है, उन्नीसवें अहर्गण पर अपरोदक नामक वायव्यस्वर्ग है। बीसवें अहर्गण पर अपराजित नामक ऐन्द्रस्वर्ग है। इक्कीसवें अहर्गण पर ऐन्द्र नामक ऐन्द्राग्नस्वर्ग, बाईसवें अहर्गण पर अधिद्यौ नामक वारुणस्वर्ग, तेईसवें अहर्गण पर प्रद्यौ नामक मुच्युस्वर्ग तथा चौबीसवें अहर्गण पर रोचन नामक ब्राह्मस्वर्ग है। ऋतधामा से लेकर रोचन तक के ये सात स्वर्ग ही देवस्वर्ग कहलाते हैं। इसलिये शास्त्र कहते हैं—*सप्त वै देवस्वर्गाः*। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इक्कीसवें अहर्गण पर जहाँ विष्णुविष्टप नामक नाक स्वर्ग होने की बात कही गई है वहाँ इस अहर्गण में सूर्य केन्द्र अभिप्रेत है और जहाँ इसी इक्कीसवें अहर्गण पर देवस्वर्ग होने की बात कही गई है वहाँ सौरज्योति और पार्थिवज्योति के परस्पर समन्वित प्रदेश की बात है। इस इक्कीसवें अहर्गण को छोड़कर अठारह, उन्नीस, बीस अहर्गण के तीन स्वर्ग प्राक्स्वरसाम कहलाते हैं तथा बाईस, तेईस, चौबीस तीन अहर्गण के तीन स्वर्ग उत्तरस्वरसाम कहलाते हैं।

### तीन पितृलोक

सूर्य के चारों ओर जो उपग्रह परिक्रमा लगा रहे हैं उनमें शनि अन्तिम है। इस शनि का जो भाग सूर्य की ओर रहता है वह धर्मराज कहलाता है और जो सूर्य की विरुद्ध दिशा में रहता है वह यमराज कहलाता है। शनि के चारों ओर जो एक वृत्त है उसे पुराणों में वैतरणी नदी कहा है। इनमें से शनि का जो ज्योतिर्मय भाग है वही पितृस्वर्ग कहलाता है। यह भाग भी तीन भागों में बँटा है। प्रथम भाग में अप् तत्त्व प्रधान है। यह उदन्वती कहलाता है। मध्य में वायुतत्त्व मुख्य है। यह पीलुमती कहलाता है। अन्त में सोमतत्त्व प्रधान है, यह प्रद्यौ कहलाता है। ये ही तीन पितृस्वर्ग हैं। इस प्रकार मरण के अनन्तर जीव की जिन-जिन स्थानों पर गति हो सकती है उसका विवरण निम्न तालिका द्वारा समझा जा सकता है—

### मरणोपरान्त आत्मगति के स्थान



## चार पथ

अब तक जितने स्थान हमने मरणोपरान्त जीव के जाने के बताये हैं उन्हें मुख्यतः दो भागों में बाँट सकते हैं—देवयान और पितृयान। फिर देवयान भी दो भागों में बाँट जाता है—देवस्वर्ग गति में ले जाने वाला देवपथ और क्रममुक्ति गति में ले जाने वाला ब्रह्मपथ। इसी प्रकार पितृयान भी दो भागों में बाँट जाता है—पितृस्वर्ग गति में ले जाने वाला पितृपथ तथा नरकगति में ले जाने वाला यमपथ।

## चार पथों पर ले जाने वाले कर्म

इन चारों पथों पर जीवात्मा भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मों के कारण जाता है। कर्म मुख्यतः दो प्रकार के हैं—विद्यासापेक्ष और विद्यानिरपेक्ष। ये कर्म भी दो प्रकार के हैं—निवृत्ति कर्म और प्रवृत्ति कर्म। इनमें विद्यासापेक्ष प्रवृत्ति-कर्म यज्ञ, तप और दान से जीव देवपथ से देवस्वर्ग में जाता है। विद्यानिरपेक्ष इष्ट, आपूर्त और दत्त कर्मों को करने से व्यक्ति पितृपथ द्वारा पितृस्वर्ग में जाता है। देवपथ तथा पितृपथ पर जाने वाला जीव पुण्य क्षीण होने पर देवस्वर्ग अथवा पितृस्वर्ग से पुनः पृथ्वीलोक पर आ जाता है, किन्तु ब्रह्मलोक में पहुँच कर जीव पृथ्वी के आकर्षण से बाहर निकल जाता है और उसे पृथ्वी पर नहीं लौटना पड़ता। ब्रह्मपथ में जाने के लिये जीव को निवृत्तकर्म का अनुगमन करना होगा। ये निवृत्तकर्म विद्यासापेक्ष भी हो सकते हैं, विद्यानिरपेक्ष भी और लौकिक भी। इसके अतिरिक्त लौकिक स्वार्थपूर्ण, लोकविरुद्ध तथा लोकनिरर्थक सभी कर्म यमपथ में ले जाते हैं।

यहाँ "विद्या" से अभिप्राय त्रयी विद्या से है। जिन कर्मों में त्रयी विद्या के ज्ञान की अपेक्षा रहती है वे सब कर्म विद्यासापेक्ष होते हैं तथा जिन कर्मों में त्रयी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं है वे सब कर्म विद्यानिरपेक्ष होते हैं। विद्यासापेक्ष कर्मों में हमने यज्ञ, तप और दान को गिनाया है। इनमें से यज्ञ के अन्तर्गत यजमान मानुषात्मा का देवात्मा से अन्तर्यामि सम्बन्ध बनाता है, इस देवात्मा की रक्षा के लिये जो प्राणकर्म किया जाता है—जिसमें त्याग और उपासना मुख्य है—वह तप है तथा वेदवित् को दक्षिणा देना दान है।

इन तीनों की विस्तृत व्याख्या हम यज्ञाधिकरण में करेंगे, किन्तु यहां इतना जान लेना आवश्यक है कि बिना त्रयी के ज्ञान के इन तीनों का सम्पादन नहीं हो सकता। इसके विपरीत इष्ट, आपूर्त और दत्त में त्रयी के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इष्ट के अन्तर्गत स्मार्तयज्ञ आते हैं, आपूर्त में कृपादि निर्माण जैसे सामाजिक कल्याण के कार्य आते हैं और दत्त के अन्तर्गत जरूरतमन्दों की सहायता करना सम्मिलित है।

जहाँ तक ब्रह्मपथ पर ले जाने वाले निवृत्तकर्मों का प्रश्न है, यह जान लेना चाहिये कि वासना बन्धन का कारण है। वही जीव को लोकों में भ्रमण करवाती है। जब हम किसी कर्म को निष्कामभाव से करते हैं तो वासना के अभाव में वह कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता और ब्रह्मपथ पर ले जाने



का निमित्त बनता है। शास्त्र में अविहित अथवा शास्त्रविरुद्ध स्वार्थपरक अथवा लोकविरुद्ध अथवा निरर्थक कर्मों का फल यमपथ है।

कर्मों का विवेचन करते समय हमने विद्या की भी चर्चा की है। बुद्धि के दो भेद हैं—सत्त्वप्रधान और तमःप्रधान। विद्या का सम्बन्ध सत्त्वप्रधानबुद्धि से है। इस विद्या अथवा ज्ञान के तारतम्य से कर्मों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम अवस्था वह है जहाँ कर्म के आचरण में विद्या लगभग लुप्त हो गई है। अन्तःसंज्ञ वनस्पति जीवों की ऐसी ही अवस्था है। इनकी कालगति नहीं होती, अर्थात् यह विचार नहीं किया जाता कि मृत्यु के बाद ये जीव कहाँ जायेंगे। इसके विपरीत जहाँ विद्या से कर्म सर्वथा अभिभूत हो गया है वहाँ भी गति नहीं होती और समवलयमुक्ति हो जाती है। इसलिए मरणोपरान्त आत्मा की गति के सम्बन्ध में विचार वहीं किया जाता है जहाँ विद्या और कर्म दोनों रहते हैं। इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिये यह जानना चाहिये कि आत्मा की दो गतियाँ हैं—नित्यगति और कालगति।

शरीर के छूट जाने पर आत्माओं का अपने-अपने स्रोत में जा मिलना कालगति है। षट् भावविकार—जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते नश्यति—वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ में होते हैं। यह उनकी नित्यगति है। यह नित्यगति प्राज्ञ का सर्वज्ञ से, तैजस का हिरण्यगर्भ से और वैश्वानर का विराट् से प्रतिक्षण होने वाला सम्बन्ध है। दूसरी गति इनकी छः अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह, मूर्छा और मृत्यु। जाग्रत अवस्था में महत्, विज्ञान और प्रज्ञान तीनों जागृत रहते हैं। स्वप्न अवस्था में महत् और विज्ञान ही जागृत रहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में केवल महत् जागृत रहता है। मोह अवस्था जागृत और सुषुप्ति के बीच की अवस्था है। मूर्च्छा अवस्था मन के प्रत्याहत होने पर होने वाली अवस्था है और मृत्यु अवस्था वह है जब महत् निर्गमन कर जाता है। इस प्रकार जीवित अवस्था में तीन प्रकार की नित्य गतियाँ होती हैं—(१) क्षण-क्षण होने वाला परिवर्तन। यह नियमित है, (२) भावविकार। ये भी नियमित हैं। (३) छः अवस्थाएँ। ये अनियमित हैं। चौथी गति कालगति है। असंज्ञ जीवों में क्योंकि वैश्वानर प्रधान है अतः उसमें क्षणिक गति और षड्भाव विकार ही रह सकते हैं। अन्तःसंज्ञ वनस्पतियों में तैजस भी है, अतः उसमें छः अवस्थाएँ भी रहती हैं। प्राज्ञ केवल ससंज्ञ जीवों में है इसलिए कालगति ससंज्ञ जीवों की ही होती है। अभिप्राय यह है कि सूक्ष्म शरीर से युक्त वैश्वानर-तैजस-गर्भित प्राज्ञ आत्मा ही शुभाशुभ संस्कारों के साथ स्थूल शरीर के छोड़ने पर गति करता है, जिसे कालगति कहते हैं।

इस कालगति के आठ निमित्त माने गये हैं जिनमें से कर्म एक है। शेष सात इस प्रकार हैं—पन्था, कर्म, नाडी, छन्द, देवता, अतिवाहिका, आकाश और लोक। इनमें से पन्थ और कर्म का कुछ वर्णन हमने किया। इन सभी आठ निमित्तों पर थोड़ा और विचार करना आवश्यक है।

## पन्थ

हम पहले कह चुके हैं पन्थ दो हैं—पितृयान तथा देवयान। गीता में इन दोनों को क्रमशः कृष्ण और शुक्ल गति कहा है। देवयान को उत्तरमार्ग अथवा अर्चिमार्ग भी कहते हैं। देवयान के भी दो विभाग हैं—देवपथ और ब्रह्मपथ। पितृयान के भी दो विभाग हैं—पितृपथ और यमपथ।